CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

A
105

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

A/105

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

702

कला-विज्ञान

लेखक

डा० हरद्वारीलाल शर्मा शास्त्री

एम० ए०, पी-एच० डी०

गवर्नमेन्ट इंटर कालिज, मुरादाबाद

A
105

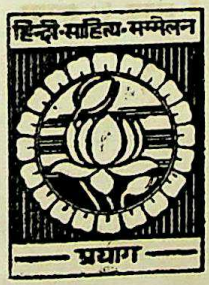

२००८

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रकाशक
हिन्दी साहित्य सम्मेलन
प्रयाग

R
२०
701.954

मूल्य १) रुपया

मुद्रक
रामप्रताप त्रिपाठी
सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रकाशकीय

मनुष्य के जीवन का शायद ही ऐसा कोई पहलू होगा जिसका सम्बन्ध कला से न हो। संसार में मनुष्य को श्रेष्ठ बनानेवाली जितनी भी विद्याएँ हैं उनकी सार्थकता को सिद्ध करनेवाली कला ही है।

धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, इसी प्रकार के जितने भी दृष्टिकोण हो सकते हैं, उन सभी दृष्टिकोणों से यदि देखा जाय तो उनकी प्रभावशालिनी शक्ति कला ही सिद्ध होगी।

सृष्टि के आदि से लेकर आज तक मनुष्य ने जो कुछ अपने अथवा संसार के हित में प्राप्त किया है उसमें लोकोत्तर आनन्द का भाव लाने के लिए कला की ही शरण ली है। इतना ही नहीं, मनुष्य ने जीवन के संघर्षों में जितने भी अनुभव प्राप्त किये हैं उन्हें भी कला की ही संरक्षकता में छोड़ कर प्रसन्नता प्राप्त की है।

प्रस्तुत पुस्तक के रचयिता श्री डाक्टर हरद्वारीलाल शर्मा ने उपर्युक्त विचार-शृंखला को लेकर कला के वास्तविक महत्त्व को प्रकट करने का जो प्रयत्न किया है, वह सर्वथा सराहनीय है। हिन्दी संसार में कला सम्बन्धी वैज्ञानिक पुस्तक की बड़ी कमी थी। इसके द्वारा उस कमी की पूर्ति होगी—ऐसी आशा है।

स्वर्गीय श्रीमान् बड़ौदा-नरेश महाराजा सयाजीराव गायकवाड़ ने बम्बई के सम्मेलन में स्वयं उपस्थित होकर जो पाँच सहस्र रुपये की सहायता सम्मेलन को प्रदान की थी, उसी सहायता से सम्मेलन सुलभ-साहित्य-माला के प्रकाशन का कार्य कर रहा है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रस्तुत पुस्तक रूप पुष्प को इसी माला के अन्तर्गत प्रकाशित किया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि अपने सौरभ-विस्तार से यह हिन्दी-साहित्य की गौरव-वृद्धि में सहायक होगा।

आषाढ़ कृष्ण २
सम्वत् २००८ वि०

दयाशंकर दुबे
साहित्य मंत्री

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राक्कथन

'कला विज्ञान' नाम से कला-सम्बन्धी कुछ निबन्धों का संग्रह मात्र यह पुस्तिका है। कला-तत्वों के ऊपर वैज्ञानिक आलोचना करने का यह प्रथम प्रयास है। अतः लेखक को इस बात का भ्रम नहीं है कि विचार-विमर्श के इस क्षेत्र में बहुत कुछ करना अभी शेष है। यदि हिन्दी साहित्य को प्रस्तुत लेखों से कोई सन्तोष हुआ तो लेखक को इस सम्बन्ध में अधिक लिखने के लिये प्रोत्साहन मिलेगा।

हरद्वारीलाल शर्मा
गवर्नमेन्ट इंटर कालिज, मुरादाबाद

व्यास पूर्णिमा, संवत् २००८

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

701.954

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विषय-सूची

	पृष्ठ
१. आमुख	१
२. भारतीय कला-इतिहास की रूपरेखा	८
३. कला और मानव-व्यक्तित्व का विश्लेषण	२४
४. अन्तर्भावना	३१
५. सुन्दर की कुछ परिभाषाएं	४१
६. कला और कल्पना	५३
७. कला में मौलिकता	६१
८. सुन्दर और उदात्त	६७
९. अलंकार	७४
१०. प्रतीकवाद और प्रतिबिम्बवाद	७९

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

: १ :

आमुख

मानव-इतिहास के धूमिल प्रभात से लेकर कला का प्रवाह आजतक बहता आ रहा है। इस प्रवाह में हमारे आदि पुरुषों के कितने अनुभव, उनके हर्ष और विषाद, अभिलाष और सन्ताप, गान और क्रन्दन, अभी तक वह रहे हैं। पहाड़ की चट्टानों और गुफाओं की भित्तियों पर जो गैरिक चित्र मिले हैं, उनमें आदिम मनुष्य का हृदय अंकित है। वन के भयंकर वराह और महिष को भाले से छेद कर जो इन मनुष्यों को हर्ष हुआ होगा तथा वन्य पशुओं द्वारा पीछा किया जाने पर जो भय का अनुभव किया होगा--इन्हीं भावों का सजीव अंकन किसी आदिम कलाकार ने इन भित्ति-चित्रों पर किया है। रात्रि, प्रभात, चन्द्रमा, मरुत्, नदी, अग्नि, कानन, वर्षा, विद्युत् और प्रकृति की अनन्त आह्लादमय छटायें ऋग् वेद की ऋचाओं में आज भी सजीव पुलकित हो रही हैं। ये हमारे सत्य दृष्टा ऋषियों के सुन्दर और पावन अनुभवों से छलकते हुए रस-स्रोत हैं जिनमें प्लावन करने से आज भी अन्तरात्मा मानव-इतिहास की प्रथम-प्रभा में जगमगा उठता है। इसी प्रकार हमारा सम्पूर्ण साहित्य, देश के कोने कोने में बिखरे हुए असंख्य मन्दिर और मूर्त्तियाँ, भित्ति-चित्र, रेखा-चित्र, संगीत और नाटच कला के अवशेष काल-प्रवाह के ऊपर अंकित युग-युग की भावनाओं के पद चिन्ह हैं।

कला के आध्यात्मिक-इतिहास की अपेक्षा साम्राज्यों के उत्थान और पतन का घटनात्मक इतिहास कुछ भी नहीं है। कला का जन्म हमारे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जीवन के गम्भीर स्तरों में तरंगायमान भावों में होता है। कला हमारे भाव-जीवन की सजीव और सवाक् अभिव्यञ्जना है। जगत् के मूल में रहने वाली व्यापक सृजनात्मक प्रवृत्ति ही इस अभिव्यञ्जना को जन्म देती है। सौन्दर्य की प्रखर अभिलाषा, रस के लिये अनन्त लालसा, संवाद, गति और लय के लिये अमिट आकांक्षा ही कलात्मक प्रेरणा की पुष्टि और संवर्द्धन करती हैं। मानव हृदय ने चिरकाल से अपने चेतन और अचेतन सम्पूर्ण साधनों और शक्तियों से कला की सृष्टि की है। मानना होगा, कला-सृजन के पीछे कोई महान्, मौलिक प्रेरणा है।

यों तो हमारी समाज-व्यवस्था, नैतिक और धार्मिक संस्थायें तथा राजनैतिक क्रान्तियाँ हमारे अध्यात्म जगत् में घटने वाली घटनाओं के प्रतिबिम्ब हैं, और आन्तरिक जीवन के साथ ही इनका प्राणन और विस्तार होता है। किन्तु कला के मूल में इन सबसे अधिक गम्भीर, व्यापक और शक्तिमान् तत्व है जिसका उन्मीलन नृत्य, वादित्र, गायन, चित्र तथा काव्य के द्वारा चिरकाल से होता आया है। वह तत्व है सौन्दर्य जिसका आनन्द और भावना-जीवन के साथ अविकल सम्बन्ध है। प्रकृति ने हमें भावना की शक्ति देकर अपनी रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दमय सृष्टि के साथ हमारा स्वाभाविक और गूढ़ सम्बन्ध स्थापित किया है। यही कारण है प्रातः कालीन काञ्चन-विभा में मानव जाति ने सब देशों में कमनीय-कान्ति उषा देवी के दर्शन किये। हमारा भावमय हृदय आज भी पुष्पासव में मत्त मधुपों की गुंजार से चंचल हो उठता है। सत्य तो यह है कि सृष्टि और उसके पदार्थों से हमारा सम्बन्ध भावात्मक है।

मानव कला-कृतियां भी ईश्वरीय रचनाओं की भाँति रस के अनन्त कोश हैं। मनुष्य ने अपने भावना-जीवन के उत्तरोत्तर विकास द्वारा एक ओर तो अपनी आनन्द-अनुभूति को प्रखर बनाया है, दूसरी ओर अपनी उत्पादक शक्ति द्वारा विश्व में रस-कोश की वृद्धि की है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भावना-जीवन की पूर्णता और विकास, तथा उसके द्वारा कलात्मक रचनाओं का सृजन मानव-बुद्धि के लिये महत्वपूर्ण और विचारणीय विषय है। न केवल बौद्धिक तृप्ति के लिये, किन्तु कलाकृति के पूर्ण आस्वादन और मूल्याङ्कन के लिये भी कला-जीवन के अनेक तत्वों की गवेषणा करना अनिवार्य है। यों तो चिरकाल से मनुष्य कला के रहस्य को समझने के लिये प्रयत्नशील है, किन्तु पिछले पचास वर्षों में मानव-प्रकृति के गूढ़ तत्वों के विश्लेषण के लिये और हमारे जीवन के गम्भीर स्तरों में उत्तेजना रूप से रहने वाली शक्तियों के उद्घाटन के लिये, संसार के वैज्ञानिकों ने अधिक श्रम किया है, जिसके फल-स्वरूप कला और भावना-जीवन के मूल स्रोतों पर नवीन प्रकाश पड़ा है। भारतवर्ष में कला-विज्ञान सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार प्राचीन काल से होता आया है, परन्तु मनो-विज्ञान, सौन्दर्य-शास्त्र तथा अध्यात्म दर्शन के आधुनिक आविष्कारों ने एक वास्तविक क्रान्ति उत्पन्न की है। अतः कला-कृति के मूल्याङ्कन और रसास्वादन के लिये तथा कला सम्बन्धी प्रश्नों पर वैज्ञानिक उत्तर पाने के लिये, एक नवीन दृष्टि कोण की आवश्यकता है।

यह नवीन दृष्टि कोण क्या है?

साधारणतः यह हमारे विज्ञान-युग का दृष्टि कोण है। केवल कल्पना या विचारों के बल पर नहीं, किन्तु प्रत्यक्ष तथ्यों के आधार पर सिद्धांतों का निर्माण करना : यह वैज्ञानिक दृष्टि का सार है। परन्तु नवीन विज्ञान का क्षितिज बहुत दूर तक फैला हुआ है, यहाँ तक कि साधारण जन के लिये तो दूरस्थ सीमायें प्राचीन अध्यात्म की भाँति रहस्यमयी प्रतीत होती हैं। सत्य तो यह है कि केवल विश्लेषणात्मक उन्नीसवीं शताब्दी के विज्ञान को हम पीछे छोड़ चुके हैं, जिसको आधार मान कर हम आज अनेकों वैज्ञानिक प्रश्नों का सुलझाव नहीं कर सकते। अतएव कला-विज्ञान भी आधुनिक मनो-विज्ञान, चरम मनो-विज्ञान आदि के आश्रय अपने मुख्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रश्नों का उत्तर देता है। हमारे लिये कला-विज्ञान का इन अन्य विज्ञानों के साथ सम्बन्ध समझना आवश्यक है।

उदाहरणार्थ : कला-विज्ञान का प्रश्न है : सौन्दर्य-सृजन का मूल स्रोत क्या है ? कलाकार का साधारण अनुभव है कि वह अपने व्यक्तित्व के परिचित और सीमित चेतन अंश से कला की सृष्टि नहीं करता। वेदों के कलाकार क्रान्तदर्शी थे, उन्होंने ऋचाओं का दर्शन किया अथवा किसी दूर देश से आती हुई ध्वनियों के रूप में सुना। रामायण और महाभारत की रचना हमारी जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति, इन तीनों साधारण अवस्थाओं से भिन्न तुरीय (समाधि) अवस्था में की गई। इसी भाँति पूर्व और पश्चिम, नवीन और प्राचीन कलाकारों का अनुभव है कि कला का सृजन, हमारे परिमित व्यक्तित्व की सीमा से दूर, किसी असीम परन्तु गति, लय, ताल, व्यञ्जना आदि सौन्दर्य के प्रेरक, स्वयं नियम हीन, सीमा रहित किसी विशाल अनन्त अन्तराल में होता है। क्या किसी उपाय से अपने व्यक्तित्व के इस अपरिमित और अपरिचित अन्तराल का सन्धान किया जा सकता है ? विना किये तो कला-अनुभूति का रहस्य और सौन्दर्य-आस्वादन का तत्व नहीं समझा जा सकता । इसलिये आधुनिक कला-विज्ञान इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिये चरम मनो-विज्ञान का आश्रय लेता है।

कला के मूलोद्गम का प्रश्न कला-विज्ञान का महत्वपूर्ण प्रश्न है। इसका सम्बन्ध मानव-व्यक्तित्व के प्रश्न के साथ है। पाश्चात्य पंडितों ने भी, चरम मनोविज्ञान के आधार पर, मानव-व्यक्तित्व को अपरिमेय निश्चित किया है। हमारे देश के दार्शनिकों ने तो जीव को ब्रह्म का मायिक स्वरूप मान कर मानवता का आदर किया है। यद्यपि व्यक्तित्व के अपरिमित अंश के विषय में पूर्व और पश्चिम में गम्भीर अन्तर है, तथापि सम्पूर्ण भावनाओं का उदय, विकास और विलय, सृजन-प्रवृत्ति का आरम्भ, उसी अतीत अवस्था से होता है, इस विषय में मतभेद

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नहीं है। प्रश्न केवल यही है: कला-सृजन का स्वरूप और इसके पीछे प्रेरणा कौन सी है ?

कला-विज्ञान के लिये आवश्यक है कि कला-कृति और कलाकार की गम्भीर अन्तरात्मा तक हमें पहुँचावे। कला का बाह्य कलेवर ध्यान से देखने पर नियमों से बंधा हुआ प्रतीत होता है। इनमें से कुछ तो गणित के नियमों की भाँति सरल और मर्यादा युक्त हैं। प्रत्येक स्वर-लहरी, तान, अंगहार, चित्र में रेखा और रंगों की गति और सामञ्जस्य, मूर्ति अथवा मंदिर में रेखाओं का आरोह-अवरोह, परिमाण और रेखा का प्रभाव आदि भावना और गणित के साधारण सिद्धान्तों द्वारा स्पष्ट किये जा सकते हैं। सृजन और आस्वादन की क्रिया का स्पष्टीकरण चरममनो-विज्ञान की सहायता से किया जा सकता है। कला-विज्ञान का यह नवीन दृष्टि कोण हमारे लिये समझना आज विज्ञान-युग में आवश्यक है।

भारतीय कला-वेत्ताओं ने भी इन प्रश्नों पर विचार किया है। विशेषतः दो दृष्टि कोण यहाँ प्रकाश में आये। इनमें से एक तो भाषा का दृष्टि कोण है, दूसरा आध्यात्मिक। हमारे देश में व्याकरण को दर्शन-शास्त्र का स्थान दिया गया है। इसका कारण यह है कि भाषा की उत्पत्ति, वृद्धि, गति सम्बन्धी प्रश्नों को लेकर, शब्द-व्यापार, शब्द-अर्थ सम्बन्ध, शब्द-शक्ति इत्यादि महत्वपूर्ण प्रश्नों पर, भारतीय दार्शनिक ने गम्भीर विचार किया है। शब्द की गति और शक्ति पर विचार करते हुए उन्होंने निश्चित किया है कि शब्द का पार्थिव रूप चाहे वर्णात्मक क्यों न हो, किन्तु इसका वास्तविक रूप अवश्य चैतन्यमय है। शब्द जीवन और चेतना के ज्वलन्त कण हैं। उनका स्वरूप आध्यात्मिक है, क्योंकि उनका वैखरी (श्रुत) रूप मनो-गुहा में निहित अखंड ज्योति से उत्पन्न हुआ है। इन्हीं दार्शनिक विचारों का विकास होते होते लक्षणा, व्यञ्जना, ध्वनि, चमत्कार आदि कला के मूल तत्वों का स्पष्टीकरण हुआ। भारतीय रस शास्त्र अथवा अलंकार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शास्त्र वस्तुतः शब्दशास्त्र अथवा व्याकरण-दर्शन के अंग हैं। इनमें कला के मूल तत्वों पर दार्शनिक विचार उपस्थित किये गये हैं।

आध्यात्मिक दृष्टि कोण विश्व को कलाकार के नेत्रों से देखन का प्रयत्न है। विज्ञान-वित् विश्व को बुद्धि-गम्य बौद्ध-तत्व समझता है, परन्तु कलाकार इसे आस्वादन योग्य भावना का सुन्दर जाल समझता है। विश्व सुन्दर है, सौंदर्य से इसकी उत्पत्ति हुई है। कला के विषय में यह अध्यात्म दृष्टि भारतीय-दर्शन की देन है। इसके द्वारा कला के कई तत्वों का स्पष्टीकरण हुआ है: जैसे—कला-तृप्ति क्या हमारी भोग-वासना की तृप्ति है जो अपना साधारण सरल मार्ग न पाकर कला के द्वारा परिपुष्ट होती है? पाश्चात्य मनो-विश्लेषण विज्ञान के अनुसार कला तृप्ति का असाधारण, निम्न और निन्द्य साधन है। भारतीय अध्यात्म शास्त्र का मत इस विषय में स्पष्ट और प्रबल है: कला के द्वारा भावनात्मक तृप्ति सौन्दर्य-सृजन का आधार लेकर होती है। इस सृजनात्मक आनन्द से हमारी भावनाओं की जागृति, हमारे व्यक्तित्व का उदात्त और उच्च स्तर पर संगठन, तथा हृदय को जड़ता देने वाली कुवासना-ग्रन्थियों का निवारण आदि फल होते हैं। अतएव कलाकार की तृप्ति का वही स्वरूप है जो ऋषि को समाधि अवस्था में 'धर्म' का साक्षात् करने में होता है। हमारा सीमित व्यक्तित्व, समय और सीमा के बन्धन टूट जाने पर (उपासना के द्वारा) जिस अखण्ड चेतना के दर्शन से आनन्द अनुभव करता है, वही कलाकार भी अनन्त सौदर्य्य के दर्शन से पाता है। यही कारण है कि, न केवल भारत में परन्तु सभी देशों में प्रारंभिक धार्मिक कृतियों का कला से इतना सम्बन्ध रहा है।

कहना होगा कि भारतीय दृष्टि कोण कला के कई जटिल प्रश्नों का ठीक उत्तर देने में समर्थ है और कला विज्ञान के लिए इसकी भारी देन है: पाश्चात्य और आधुनिक दृष्टि कोण भी बहुमूल्य है। इन निबन्धों में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दोनों दृष्टियों को पृथक् रखने के लिए हम चेष्टा करेंगे तथा कला के विभिन्न प्रश्नों पर विचार करते हुए दोनों का सम्मिलन और सन्तुलन करेंगे। परन्तु भारतीय कला-शास्त्र का विशदीकरण और कला-तत्वों की भारतीय मीमांसा, तथा युगयुगान्तर से बहते हुए भावना के स्वच्छ और सुन्दर स्रोत का कला-कृत्तियों के द्वारा अवगाहन और आस्वादन, यह भिन्न ही विषय है जिनका विचार प्रस्तुत निबन्ध संग्रह में केवल गौण रूप से है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

: २ :

भारतीय कला-इतिहास की रूपरेखा

कला का इतिहास हमारी भावना और सृजन-शक्ति के विकास की क्रम-बद्ध कहानी है। प्रत्येक युग अपनी प्रेरणाओं द्वारा भावना की पुष्टि और प्रवर्द्धन करता है, या यों कहिये, एक पुष्ट भावना ही युग का निर्माण करती है। वह नर और नारी के अभिलाषाओं और आदर्शों को जन्म देती है, अपने अनुकूल संस्थाओं को स्वरूप देती है और उर्वर कलाकार की कल्पनाओं को अनुप्राणित करती है। इतिहास में जिसे 'युग' कहा जाना चाहिए, उसमें भावना द्वारा ही एकात्मता का उदय होता है। यही कारण है कि एक युग की घटनाओं, धार्मिक संस्थाओं, कला और साहित्य की शैलियों, विचारधारा आदि सभी अभिव्यक्तियों में आन्तरिक सामञ्जस्य पाया जाना आवश्यक है।

भारतीय कला-इतिहास का मानसिक क्षितिज बहुत दूर तक फैला हुआ है। इस देश की आदिम कला में जीवन के प्रभात का उन्मुक्त प्रकाश है। रेखाओं में शिशु-जीवन की सरलता और स्वच्छन्द अभिव्यक्ति है। क्रीड़ा और भोग-भावना स्पष्ट हैं। कला सृजन भी क्रीडा का अंग है, और क्रीडा की भाँति ही, कला में नियमों का बन्धन, मर्यादा की जटिलता प्रौढ़ जीवन का गाम्भीर्य आदि कुछ नहीं है। इस कला में शिशु-जीवन का आनन्द है, शैशव का उन्मुक्त हास्य और क्रन्दन है, हृदय की कोमलता के साथ सरल और स्पष्ट अभिव्यञ्जना है। भारतीय आदिम कला सौन्दर्य-सृष्टि में उन्मुक्त भोग भावना और आत्म प्रसाद का उत्कृष्ट नमूना है। उसमें भोग और मोक्ष दोनों का स्वाभाविक सामञ्जस्य है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

धार्मिक चतना के विकास-क्रम में मुक्ति और भुक्ति का यह सामंजस्य हमें 'शिव' की उपासना में मिलता है। शिव वस्तुतः आदि देव हैं, कला के प्राचीनतम नमूने शिव-मूर्तियों में पाये गए हैं। 'शिव-भावना' ही इस देश की आदिम और मौलिक भावना प्रतीत होती है। आलस्य और निश्चिन्तता भी स्वयं एक भोग है। बाधा और बन्धनों से मुक्ति स्वयं विलास है। आलस्यमय, क्रिया शून्य निर्बन्ध भोग-भावना की सर्वोच्च कल्पना ही 'शिव' की कल्पना है। वैदिक लोगों ने भी तमोगुण का अवतार मान कर शिव की उपासना की है। आदिम कला का केन्द्र यही 'शिव-भावना' प्रतीत होती है।

आदिम काल के अनन्तर आर्ष काल है। 'आर्ष-भावना' का स्वरूप क्या है जिसने वैदिक साहित्य को जन्म दिया? वेद धर्म ग्रन्थ तो हैं ही, साथ ही व उत्तम काव्य भी हैं। वे धार्मिक काव्य हैं। वैदिक धर्म भी कलात्मक है। धर्म और कला का स्वाभाविक सम्मिलन आर्ष-भावना का रहस्य है। धर्म और कला उस युग के जीवन की पूर्णता और प्रेरणा हैं। उदाहरण के लिए आप सूर्य सूक्त, अग्नि, उषा सूक्त को लीजिये। न ये केवल हृदय की गद्गद प्रार्थनाऐं हैं, साथ ही इनके कलात्मक वर्णन भी हैं। सूर्य 'हिरण्यपाणि' है। वह अपने काञ्चन-करों से तेज की सृष्टि करता है; रजो लोक (आन्तरिक्ष) में 'रेतस्' (जल) द्वारा 'माता' (निर्मात्री पृथ्वी) के लिए गर्भाधान कराता है। यह प्रार्थना होते हुए भी सुन्दर कल्पना है।

धर्म और कला के सामञ्जस्य से धर्म में काव्य की सहृदयता और काव्य में धार्मिक स्वाभाविकता का आविर्भाव वैदिक साहित्य में हुआ। यही इसके अनुपम होने का कारण है। दिव्य भावना से जगत् का आच्छादन, दिव्य आनन्द और दिव्य भोग की कल्पना, आशाओं और उल्लासों की उमंग, कल्पना की स्वच्छन्द उड़ान—यही वैदिक कालीन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भावना है। जगत् की जड़ता, उसमें नियति और नियम के बन्धन, संकोच, ह्रास, दमन और मालिन्य की गन्ध भी नहीं है। वैदिक सूक्त इसी भावना के सरस, सजीव स्रोत हैं।

वेद के अनन्तर इस वैदिक भावना की काव्यात्मक अभिव्यक्ति बहुत कम मिलती है। इसका सर्वथा अभाव तो सम्भव नहीं क्योंकि यह कला की जन्मदायिनी मूल प्रेरणा है। अतः इसकी झाँकी, स्पष्ट और अस्पष्ट रूप से, कला के इतिहास में हमें पुनः पुनः मिलती है। जिस कला में आनन्द की अनुभूति है, परन्तु अतृप्ति का उत्ताप नहीं; उन्मुक्त हास्य है, विडम्बना नहीं; सौन्दर्य है परन्तु मूढ़ता नहीं; जिसमें कल्पना की स्वच्छन्दता और धर्म की मर्यादा है; जिसमें पुष्प का सौन्दर्य, परन्तु अञ्जलि का समर्पण; सोम की मादकता और सुधा का अमर-माधुर्य; जीवन की तरलता और मृत्यु का अनन्त अवकाश है;—यह जिस कला में है, वह निश्चय ही वैदिक कला है, वह चाहे किसी युग अथवा देश में क्यों न हो।

वेद के उत्तर कालीन कला में कल्पना की पूर्व सी स्वच्छन्दता और आनन्द-भावना का उन्मुक्त विहार कम मात्रा में है। वैदिक कला का केन्द्र प्रकृति है; मनुष्य भी उसी प्रकृति का विकसित पुष्प है। इसके उत्तर काल में मनुष्य ने अपने व्यक्तित्व को प्रकृति के विराट् व्यक्तित्व से पृथक् किया। दोनों में संघर्ष की भावना का भी उदय हुआ। वैदिक ऋषि वन में जीवन बिताते थे; परन्तु रामायण में भगवान् राम का वन-गमन कम भयंकर कल्पना नहीं है। मनुष्य और नियति में विरोध है, और इस विरोध में मनुष्य की पराजय और नियति की विजय है। अश्रु बहते रहने पर भी मर्यादा पालन करते रहना, यही मनुष्य के लिए श्रेयस्कर है। परन्तु रामायण में मर्यादा के साथ भोग-भावना का भी संघर्ष है। भगवान् राम और महारानी सीता का सौन्दर्य अनुपम, उनका प्रेम प्रगाढ़

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और सामर्थ्य लोकोत्तर है। राज्य है, बल है, बन्धु बान्धव है, परन्तु भोग नहीं। निषाद का बाण क्रौञ्च और क्रौञ्ची के विलास को सहन नहीं कर सकता। यह निषाद लोक-मर्यादा और नियति के अतिरिक्त कोई नहीं है।

इस काल की कला में तीन प्रेरक भावनाओं का सम्मिश्रण है: प्राकृतिक सौन्दर्य, मर्यादा और नियति, तथा भोग-भावना। इन तीनों के संघात और संघर्ष से रामायण की कला-भावना का जन्म होता है। महाभारत का युद्ध भोग और भाग्य का संघर्ष है। मर्यादा के पुट से कलाकार ने इस संघर्ष को निम्नस्तर से उठाकर धर्म के उच्च स्तर पहुँचा दिया है। साथ ही इसमें आध्यात्मिकता है। ऊपर से तो कलह एक राजनैतिक क्षेत्र की भयंकर घटना मात्र है; परन्तु व्यास ने इस घटना को संसृति के निरन्तर बहते हुए अनादि और अनन्त प्रबल प्रवाह में रख कर देखा है, धैर्य और साहस के साथ। इस दर्शन से एक नवीन दृष्टि कोण का आविर्भाव होता है—वह है ब्रह्मदृष्टि, बृहत् दृष्टि अथवा दार्शनिक दृष्टि जिससे जीवन और मृत्यु के साधारण आंकड़े, पाप और पुण्य की सर्वमान्य मीमांसा, सुख-दुःख का साधारण सिद्धान्त, सभी रूपान्तरित हो जाते हैं। महाभारत के नायक श्रीकृष्ण की दृष्टि में विकट युद्ध भी माया का क्षणिक विलास है, सुख-दुःख दोनों ही आत्म-प्रवंचना हैं, विनाश और सृष्टि दोनों ही प्रकृति के श्वासोच्छ्वास हैं। यह विराट् दृष्टि महाभारत की व्यापक भावना है।

महाभारत की कला-भावना का विश्लेषण इसलिए आवश्यक है कि यह उत्तरकालीन बहु-मुखी कला-विकास की प्रधान प्रेरक शक्ति है। इसमें भावना की अनेक धारायें आकर मिलती हैं। यह कला की सृजनात्मक भावना का वह निधि है जिससे बौद्ध, जैन और ब्राह्मण कालीन सभ्यता, दर्शन और साहित्य तथा कला का जन्म हुआ। अब भी अनेकों कवि और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कलाकार इसी से प्रेरणा पाते रहे हैं। यह भावना, साथ ही, अपन पूर्व इतिहास की समष्टि है।

महाभारत की कला-भावना संक्षेप में इस प्रकार है : भोग और भाग्य का संघर्ष, मर्यादा की उच्चता, आध्यात्मिक ब्रह्म दृष्टि और प्रबल निर्वेद, संसार की दुःखमयता और देवताओं का मनुष्य पर अधिकार। यह निश्चित है कि यह जटिल भावना जीवन की जटिलता से उत्पन्न हुई। फलस्वरूप इस जटिलता की विरोधी प्रतिक्रियायें जीवन को सरल बनाने और भावना के 'तनाव' को कम करने के लिए हुई होगी। व्यास के ही निर्देश से जैमिनि महर्षि ने धर्म की पुनर्व्यवस्था की और जीवन का मार्ग सरल बनाया। जीवन की सरल-सरणि से इस देश में शक्तियों का पुनर्विकास हुआ और देश में भौतिक सम्पद् और समृद्धि ने चरम उन्नति की। यह महाभारत का उत्तर काल है जिसमें यज्ञ-पद्धति का प्राधान्य था।

जीवन की सरलता से एकांगीपन का आविर्भाव हुआ। सांसारिक समृद्धि ने भोग-भावना को प्रखर तो बनाया, साथ ही अपनी प्रतिक्रियायें भी उत्पन्न कीं। इससे बौद्धकालीन वैराग्य का आविर्भाव हुआ। वैराग्य स्वयं प्रबल भावना है और कला की जन्मदायिनी है। बुद्ध ने उपनिषद् की गम्भीरता और देवता वाद को अस्वीकार किया। वैदिक सौन्दर्य का तिरस्कार किया जो इस समय यज्ञ-रूप में आकर विकृत हो चुका था। "संसार दुःखमय है; भोग-भावना भाग्य पर विजय नहीं पा सकती, अतएव आशा ही दुःखों का मूल है" यही बौद्ध निष्कर्ष था जिसने जीवन में निर्वेद की स्थापना की और मार्ग को सरल और संकीर्ण बनाया।

वैराग्य से कला का आविर्भाव कैसे हुआ? विरक्त भोगमय संसार से ऊब कर विरागमय जगत् की सृष्टि करता है। बौद्ध स्तूप एक विराट् विश्व की कल्पना है, जिसके गोल गुम्बद में आकाश की प्रतिच्छाया है। इसकी सरलता में विरक्त जीवन का प्रतिबिम्ब है। इसका शिखर मुक्ति

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की भाँति उच्च, निस्सीम और बन्धन रहित है। वस्तुतः बौद्ध-स्तूप बुद्ध की साकार कल्पना है। ज्यों ज्यों बौद्धों की विराग-भावना का विकास हुआ, उन्होंने कल्पना द्वारा विरक्त जगत् की मानसिक सृष्टि की। कलाकार ने उस भावना की सुन्दर और स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए स्तूपों की रचना की। देश और विदेशों में चतुरस्र वेदिकाओं पर अनेकों 'भूमियों' से युक्त, सुवर्ण कलश और शिखरों से सजे हुए स्तूपों का निर्माण हुआ।

स्तूप को वैराग्य का साकार रूप देने में जैन धर्म का भी सहयोग है। जैन मत के अनुसार सांसारिक जीव 'लोकाकाश' में हैं और मुक्त पुरुषों का स्थान 'अलोकाकाश' है। मनुष्य के पद पृथ्वी पर हैं, परन्तु उसका ज्ञान-प्रभा-युक्त मस्तिष्क पृथ्वी के ऊपर है। स्तूप समाधिस्थ पुरुष की प्रतिकृति है। इसके अतिरिक्त जैन मत में योगाभ्यास द्वारा आत्म-विजय पाना सम्भव है। इससे यौगिक मुद्राओं और आसनों का सामान्य प्रचार हुआ। बौद्ध कलाकारों ने भगवान् बुद्ध की विभिन्न योग मुद्राओं में साकार कल्पना की। देवता वाद के प्रभाव से बुद्ध के अनेक अवतारों की कल्पना की गई जिससे चित्रकार और मूर्त्तिकारों को नयी सामग्री प्राप्त हुई। बौद्ध धर्म का प्रचार भिन्न भिन्न और दूर देशों में हुआ। अतएव गान्धार से लेकर जापान तक, तिब्बत और मध्य एशिया से लेकर लंका तक, सारा देश स्तूप, चित्र और मूर्त्तियों से भर गया।

बौद्ध कालीन कला की मूल-भावना निर्वेद है। परन्तु 'निर्वेद' स्वयं शून्य है। अतः बौद्ध धर्म के विस्तार के साथ ही इस शून्यता में दिव्य गुणों का समावेश होने लगा। जैसे : निर्वेद से इन्द्रियों पर विजय और उस विजय का उल्लास, जिसकी प्रभा से मुख पर, नेत्रों में, भृकुटि और ललाट पर, शरीर में और हृदय पर, एक जाज्वल्यमान प्रभाव। शिल्पी और कलाकार ने कठोर पत्थर और रंगों में, इस प्रभा और उल्लास, आत्म विजय और आन्तरिक आह्लाद की ऐसी सजीव अभिव्यक्ति की है कि बौद्ध

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कालीन कला की तुलना संसार में कम मिलती है। विभिन्न जातियों और देशों ने इस निर्वेद को साकार बनाने के लिए विभिन्न कल्पनायें की हैं। केवल बौद्ध कला का कल्पना-जगत् जो अभी तक असंख्य स्तूपों, चित्रों और मूर्त्तियों में जीवित है, इतना विस्तृत, विचित्र और वैभव-सम्पन्न है कि शेष संसार का कला-वैभव भी इतना न होगा।

भगवान् बुद्ध की मूर्त्ति जड़ जगत् पर चेतन सत्ता के विजय की सूचना है। निर्वेद के शून्य अन्तराल में दिव्य ज्योतियों का उदय आवश्यक था; अतः शान्ति, दया, क्षमता, क्षमा, उल्लास और आनन्द की अनिर्वचनीय अनुभूति का कलात्मक सृजन प्रारम्भ हुआ। देश देशान्तरों के कलाकारों ने चट्टानों को खोद कर, गुफाओं के गर्भ में, वज्र मणियों में, भवनों की प्रस्तर-भित्तियों पर, इन्हीं कोमल भावनाओं के चित्रण से जड़ जगत् को अनुप्राणित कर दिया।

ईसा से पूर्व पहली शताब्दी भारतीय इतिहास में महत्वपूर्ण है। इस समय नाट्याचार्य भरत का आविर्भाव हुआ। भरत के नाट्यशास्त्र में पूर्व अनेक आचार्यों और नाट्य-ग्रन्थों का उल्लेख है, तथा संगीत, नृत्य, चित्र, कला, वास्तु कला का इतना विशद और सांगोपांग वर्णन और विश्लेषण है जिससे प्रतीत होता है कि इस देश में सदियों तक इन कलाओं का विकास और इन पर वैज्ञानिक विचार हुआ होगा। नाट्य शास्त्र पूर्ण रूप से हिन्दू ग्रंथ है; इस पर बौद्ध प्रभाव अस्पष्ट है; इसकी शैली पौराणिक है। इससे प्रतीत होता है कि बौद्ध धर्म का प्रभाव जीवन के ऊपरी स्तर पर ही था। जीवन की अन्तर्धारायें अभी तक अपने चिर पूर्व ऐतिहासिक प्रभावों के साथ बहती थीं। बौद्ध धर्म ने जिस काल में कला सृजन के लिये प्रेरणा दी, उसी समय कला में लौकिक नृत्य, गान, साहित्य आदि का विकास प्रारम्भ हुआ। यह विकास दशवीं शताब्दी के अन्त तक चरमान्त को पहुँचा। भरत से लेकर अभिनव गुप्त तक का काल

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भारतीय इतिहास में सृजन का सर्वोत्कृष्ट युग है। इसके व्यापक और गम्भीर प्रभाव के कारण यदि इसे भरत-काल कहें तो उपर्युक्त होगा।

वस्तुतः कला की दृष्टि से भरत-काल रस का युग है। बौद्ध-काल की प्रेरक भावना यदि विराग और निर्वेद है तो इस युग की प्रेरणा का मूल अनुराग और भोग है। जीवन को सरस और हृदय को आर्द्र बनाने के लिये शुष्क वैराग्य और शून्यता न चाहियें, परन्तु हमें चाहिये मानवी मूल प्रवृत्तियों का उत्थापन और पुष्टि। जीवन स्वयं अपूर्ति है; बौद्ध-दर्शन इसको शून्य और रिक्त बनाने के लिये इच्छाओं का दमन चाहता है। परन्तु इतिहास की मूल धारा जिसने भरत शास्त्र को जन्म दिया, वह जीवन की पूर्णता, इच्छाओं के पोषण का आदेश करती है। यदि निर्वेद के द्वारा कला में एक नवीन स्फूर्ति का उदय हुआ था तो इस लौकिक दर्शन ने कला में सरलता को जन्म देकर एक नवीन चमत्कार उत्पन्न किया।

भरत के रस शास्त्र ने कला के लिये नवीन क्षेत्रों का उद्घाटन, नवीन दृष्टि कोण और क्षितिजों का उन्मीलन किया। गुप्त काल में एक ओर तो ब्राह्मण-सभ्यता के पुनरुत्थान से बौद्ध धर्म का रूपान्तर हुआ, दूसरी ओर शिल्पी और कलाकारों ने भरत के रस सिद्धान्त का अनुसरण कर अनेकों मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण प्रारम्भ किया। हिन्दू विचारकों ने देवता-वाद को पूर्ण किया। प्रत्येक रस के लिये एक अधिष्ठातृ देवता की कल्पना की गई। जैसे; विष्णु शृंगार रस के लिये, शिव रौद्र रस के लिये, इत्यादि। इन रसों की मूर्ति और चित्रों में सृष्टि हुई। भक्तों और शिल्पियों की उर्वर उन्मेष शक्ति के द्वारा मस्तिष्क ने ऊँची उड़ाने भरीं। अनेकों कल्पना और आविष्कारों द्वारा इस समय की कला-सम्पद् दूनी होगई।

गुप्त कला की मूल प्रेरणा है सौन्दर्य की सृष्टि। परन्तु यह सौन्दर्य सरस है। मानवी मूल प्रवृत्तियों के पोषण से रस का आविर्भाव होता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वस्तुतः मूल प्रवृत्तियों का कलात्मक पोषण, न कि वासनात्मक, जिससे तृप्ति का स्तर ऊँचा और मर्यादित रहे, यही इस समय कला की प्रेरक भावना है। मन्दिरों और मूर्तियों के प्रचुर निर्माण से यह अनुमान करना उचित नहीं प्रतीत होता कि इस समय केवल भक्ति ही प्रवल भावना थी। भक्ति का उदय भी इस समय मूल प्रवृत्तियों के पोषण के लिये ही था, केवल स्तर और दृष्टि कोण में अन्तर था। वस्तुतः गुप्त-काल की सारी कल्पना--इसका मूर्तिवाद, मन्दिर वाद, अवतार सिद्धान्त, भक्ति, पौराणिक मत, संक्षेप में सम्पूर्ण ब्राह्मण वाद--बुद्ध-कालीन शून्य पर अशून्य की विजय थी, विराग पर अनुराग का पुनः अधिकार था। लोगों ने रिक्त जीवन में किसी आह्लाद मय अस्तित्व का अनुभव किया। यह अस्तित्व अपनी ही भावनाओं की सरसता थी। इस समय जीवन सरस था, कल्पना सरस थी, अतएव कला में सरसता की उत्कृष्ट सृष्टि हुई।

वौद्ध धर्म निवृत्ति परायण था। उसमें अनुशासन और नैतिक शुद्धता पर विशेष ध्यान था। ब्राह्मण-वाद ने उसे अपनाया। इसीलिये इस काल की कला में सरसता का स्तर नैतिक दृष्टि से ऊँचा रहा। परन्तु कुछ राज-नैतिक कारणों से नैतिक शिथिलता का प्रारम्भ हुआ। यह भारत का राजपूत काल था। केन्द्रीय शक्ति के अभाव से अनुशासन का अभाव हुआ और विलासिता की वृद्धि। फलतः मध्य कालीन कला विलास मय हो गई। साहित्य, चित्र कला, वास्तु कला तथा मूर्ति कला के इस युग के नमूने चरित्र हीनता, नैतिक पतन तथा कलात्मक कल्पना में शिथिलता की स्पष्ट सूचना देते हैं। इसी युग में श्रृंगार को रस राज होने का आदर मिला।

एक ओर राजनैतिक शक्ति का ह्रास और नैतिक पतन हुआ, दूसरी ओर विदेशियों के प्रबल प्रहार से देश की सभ्यता, संस्कृति और सामर्थ्य पूर्णतया भयभीत और आक्रान्त हो गये। कला के लिये कोई प्रेरणा न

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रही। उत्तरी भारत में १२, १३ और १४ वीं शताब्दी में कोई साहित्य और कला का सृजन नहीं हुआ। केवल दक्षिण में शैव और शाक्त मत के प्रचार से विशाल और भव्य मन्दिरों का निर्माण हुआ। शेष भाग में पहाड़ों और चट्टानों पर दृढ़ दुर्ग बनाये गये। कला-भावना का स्थान आत्म रक्षा की भावना ने लिया।

विदेशियों के आघात से भारतीय जीवन में क्रान्ति उत्पन्न हुई। एक नवीन धार्मिक भावना का उदय हुआ, जिसमें जीवन और जगत् के प्रति दृढ़ वैराग्य और निराशा, सांसारिक वैभव के प्रति उदासीनता साक्षात् सौन्दर्य के स्थान पर दिव्य सौन्दर्य का सुख, आत्मविजय के स्था पर आत्म-समर्पण का आनन्द, गर्व के स्थान पर दीनता, और शक्ति के स्थान पर शुचिता का आविर्भाव हुआ। यह धार्मिक भावना जटिल थी। इसमें जीवन की विरोधी भावनाओं का सामञ्जस्य था। परन्तु इसने देश को जीवन के लिये साहस दिया। लोगों को विश्वास हुआ कि इस लोक के ऊपर भी विशाल दिव्य लोक है; इस शासन के ऊपर भी ईश्वरीय शासन है। परम सुख और शान्ति के लिये अनेकों भोगभूमियाँ हैं, जहाँ देवताओं का राज्य है। इस नवीन भावना ने मध्य कालीन भक्ति को अपूर्व स्वरूप और सौन्दर्य प्रदान किया और कल्पना के लिये अभूत पूर्व दिगन्तों का उद्घाटन किया। सृजन के लिये प्रबल प्रेरणा मिली। अनेकों गायकों की ध्वनि में सरल और संगीत मय इस भावना के शतशः स्रोत वह निकले।

मुसलमानों के राज्य का प्रारम्भिक काल चैन का न था। राज्य की दृढ़ स्थापना होने पर इस युग की कला का प्रारम्भ हुआ। मूर्ति अथवा मन्दिर में इनका विश्वास न था। चित्रकारी में मानव चित्र का निषेध था। भारतीय कला का आकर्षण-केंद्र मानव अथवा दिव्य मानव था; अतएव कला अपने सब अंगों और उपकरणों से, रंग, रेखा, आरोह-अवरोह

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आदि द्वारा मानवी-भावना को पुष्ट और स्पष्ट करती थीं, मानो कला के सब अंग केवल परिमंडल का प्रभाव उत्पन्न करने के लिये ही थे जिनका केन्द्र-बिन्दु मनुष्य था। मुगल काल का हृदय विदेशी प्रभाव से प्रेरित था। उसमें फ़ारस की स्पष्ट छाप थी और थी गणित की प्रधानता।

फरसी कला में गणित की प्रधानता का कारण उस पर यूनान का प्रभाव है। रेखा, गोल, आयत, वर्ग, समघन आदि ज्यामितिक रूपों में यूनानी दार्शनिकों ने एक अलौकिक सौन्दर्य का अनुभव किया जो परिवर्त्तन शील, अनिश्चित और अनियमित मानव आकृति में न था। यूनानी कला का आदर्श स्पार्टा के अनुशासन की भाँति कठोर है। उसमें ज्यामितिक आकृतियों का नियम और अनुशासन है। यूनानी मानवी चित्रों में भी गणित की विजय है मानवी भावनाओं पर। इसलिये उसमें जीवन की तरलता के स्थान पर गणित की कठोरता और दृढ़ता का अनुभव होता है। फ़ारस में आकर कला में कुछ रूपान्तर हुआ। फ़ारसी लोग स्वभाव से कोमल और सरल हैं। अतएव गणित के अनुशासन में उन्होंने कोमलता और सरसता को जन्म दिया। ज्यामितिक रेखाओं में वंक रेखाओं का प्रयोग हुआ, गोलाइयों का अविष्कार हुआ। केन्द्र रेखा अथवा केन्द्र बिन्दु से चलकर अनेक गोलाइयों से मिलकर एक अद्भुत और सुन्दर आकृति का उद्घाटन हुआ। उसमें रंगों का समावेश हुआ। वस्तुतः रेखा और रंग के सन्निवेश के आविष्कार से कल्पना के लिये अनन्त अन्तराल खुल गये।

फ़ारसी कला भारतवर्ष में आई तो उसे पूर्ण वैभव, मुग़लों की राज शक्ति, शान्ति और सुख का अखंड वैभव मिला। भारतवर्ष की खानों के सफ़ेद, काले और सत रंगी पत्थरों से अनेकानेक ड़िजाइनों वाली मस्जिदें और राज महल बने। सुन्दर मखमली बाग़ीचे, रंग बिरंगे फूलों के पौदों से पृष्ठभूमि का इस समय कला में समावेश हुआ। मनोरम प्राकृतिक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परिमंडल से घिरी हुई, सजीली पृष्ठभूमि में, यूनान के गणित की अनुशासन रेखा भृकुटि पर लिये हुए, परन्तु मुख पर फ़ारसी सरसता, सजावट और कोमलता को अभिव्यक्त करती हुई, मानो कला ने इस समय भारतभूमि पर पदार्पण किया।

ताज महल मुगल कालीन कला-भावना की समष्टि है। उसमें भारत-वर्ष का वैभव और स्वाभाविक रमणीयता है; गणित का दृढ़ शासन है, परन्तु सरस सुकुमारता की भावना उसके अवयवों से फूट निकली है। उसका आधार चतुरस्र चबूतरा स्नेह सा धवल और दृढ़ है। उसकी ऊंची मीनारें प्रेम की उच्चता, उसका गोल गुम्बद प्रेम की व्यापकता की कलामय अभिव्यक्तियाँ हैं। वस्तुतः ठाकुर के शब्दों में यह कला का उत्कृष्ट नमूना 'काल के कपोल तल पर आंसू की एक बून्द है'।

इस काल में संगीत का भी चरम विकास हुआ। गायकों ने कल्पना द्वारा सहस्रों राग और रागनियों का आविष्कार किया। प्रत्येक राग का स्वरुप निश्चय हुआ, उसके परिवार की वृद्धि हुई, प्रत्येक का समय, स्वर, आरोह-अवरोह का क्रम, लय, ताल आदि का निर्धार किया गया। गुप्त काल के बाद संगीत में सृजन इसी समय हुआ। संगीत के बहुमुखी विकास से राजपूताने में 'राग माला' नामक एक चित्र-कला का जन्म हुआ जिसमें तूलिका द्वारा प्रत्येक राग, रागिनी का सरस चित्रण हुआ। इसके अतिरिक्त अन्य कई शैलियाँ उत्पन्न हुई।

मुगल काल का पतन और कला की उर्वर शक्तियों का ह्रास एक साथ प्रारम्भ हुआ। वैभव और विलास ने कला को अपने उद्देशों से भ्रष्ट कर दिया। रीति काल ने जन्म लिया। इस समय कला के सभी प्रदेशों में केवल पिष्ट-पेषण हुआ। नवीन सृजन का स्थान केवल बारीकियाँ निकालने ने लिया। केन्द्रीय शासन की दुर्बलता, व्यापक अशान्ति, भय और पराजय के बाद विदेशी शासन ने अपना प्रभाव उत्पन्न किया। इस

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पश्चिमी प्रभाव के काल को हम चार वृहत् युगों में बांट सकते हैं, यद्यपि प्रत्येक युग के अन्तर्गत अनेक धाराय वर्तमान हैं।

पश्चिमी कला से हमारा प्रारम्भिक सम्पर्क उस समय हुआ जब भारतीय कला अलंकारों के भार से विरूप और शिथिल हो चुकी थी। यह विलास-प्रिय कला का करुण चरमान्त था। हमारा प्रारम्भिक सम्पर्क विजित और विजेता का प्रथम परिचय था। एक ओर शक्ति, नीति, कठोर अनुशासन थे और दूसरी ओर निर्बलता और निस्सहाय सहन-शीलता थी। ऐसी अवस्था में भारतीय कला, भारतवासी की भाँति, केवल निश्वास ले सकती थी, सृजन के लिये असमर्थ थी। शासक की सारी शक्ति का उपयोग शासन की दृढ स्थापना के लिये था। अतएव इस समय शासकों ने प्रधान नगरों में चौराहों और अन्य मुख्य स्थानों पर स्मारक और 'रोबदार' औफिस बनवाये, जिनका अभिप्राय कलात्मक होने के स्थान पर मनोवैज्ञानिक था जिससे शासित वर्ग के हृदय में भय और आतंक उत्पन्न हो। दिल्ली, कलकत्ते आदि में भव्य भवनों का निर्माण इसी उद्देश्य से हुआ। इन भवनों में सौन्दर्य-सिद्धान्तों की अपेक्षा स्वास्थ्य सिद्धान्तों पर, इनकी भव्यता, दृढ़ता और कठोरता पर अधिक बल दिया गया है। विशाल पुल और सरकारी स्थानों के निर्माण में इन्जीनियरिंग के वैज्ञानिक सिद्धान्त, उपयोगिता, सरलता, मितव्ययिता आदि के नियम कला के नियमों की अपेक्षा अधिक लागू होते हैं।

दूसरे युग में भारतीय कला को साहस और शान्ति मिली। इस समय का युग केवल अनुकरण का युग है। चित्र-कला में अंग्रेजी शिक्षकों से मौडल और नेचर ड्राइंग सीखा गया; चित्रों में प्रकाश और छाया के नियम, वाटर और ऑयल पेंटिग, तथा वस्तु वीक्षण (Perspective) के सिद्धान्तों में भारतीय कला ने दीक्षा ली। इस प्रकार बम्बई में एक मिश्रित चित्र-शैली का जन्म हुआ। मूर्ति और वास्तु-कला में केवल योरप का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अनुकरण हुआ। नृत्य संगीत और साहित्य में पश्चिमी कला के स्वरूपों और आदर्शों का यथा सम्भव अवतरण हुआ। परन्तु इस भूमि में ये पल्लवित न हो सके। यह वह समय था जब महात्मा गान्धी ने विलायत में नृत्य और वायलिन सीखने का प्रयत्न किया था और असफल हुए। परन्तु इस युग की भावना विदेशी कला और जीवन के प्रति प्रशंसात्मक थी।

तीसरा युग सामञ्जस्य और विरोध का युग है। ब्रिटिश राज्य के प्रति विप्लव, दासता और दीनता पर ग्लानि, स्वकीय वैभव की खोज, आर्थिक जीवन की समस्यायें, राजनैतिक क्षेत्र में बलिदान की भावना, सामाजिक कुप्रथाओं का तिरस्कार आदि अनेक भावनात्मक प्रवाहों ने मिलकर इस युग के जातीय जीवन में विकट तरलता उत्पन्न की। संक्षेप में, 'अतीत से मुक्ति' इस युग की भावनात्मक प्रेरणा थी। फलतः कला में उर्वर कल्पना की जागृति हुई। संगीत, चित्र, नृत्य और वास्तु कला में अनगिन नवीन आकृतियों का आविष्कार हुआ। पश्चिमी शैलियों को भारतीय रूपान्तर करने का प्रयत्न हुआ। समाज के हृदय में तरंगायमान भावनाओं का प्रतिबिम्बन तथा पश्चिमी आदर्शों का भारतीयकरण—ये इस काल- विभाग के मुख्य लक्षण थे।

स्वदेशी आन्दोलन के साथ भारत-भूमि की मूल-प्रतिभा की खोज प्रारम्भ हुई। यही चौथा युग है। अतीत के विरोध का स्थान भविष्य के स्वप्नों ने लिया। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भविष्य के चित्र सामने आये। साथ ही कलाकार ने यथार्थवाद को भी अपनाया। चित्रों और गीतों, नृत्यों और साहित्य के विविध अंगों में आदर्शवाद और वास्तविकता का संयोजन और चित्रण हुआ। भारतीय मूल प्रतिभा के उन्मेष से चित्र-कला में रेखा की सामर्थ्य को पुनरुत्थान मिला। वर्ण, प्रकाश और छाया, वस्तु वीक्षण आदि पश्चिमी कला-चातुर्य को रेखा और भाव के आधीन किया। भारतीय स्वाभाविक आकृतियों को पुनः जीवन मिला। इसी भाँति नृत्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और गायन में हमारे देश में अपरिमित कला-शक्ति के नवीन स्रोत मिल गये। सौभाग्य से, कला के प्रत्येक क्षेत्र में हमें ऊंची से ऊंची प्रतिभा के प्रमुख नेता मिल गये।

हम आज इस युग के सीमान्त पर हैं। जीवन और आशा के साथ ही कल्पना के लिये अनन्त भविष्य का द्वार उन्मुक्त है। भारतीयता का मूल स्रोत हमें कला में मिल चुका है। इस स्रोत को समृद्ध, सुन्दर और प्रगतिशील बनाने के लिये नवीन कला कृतियों की आवश्यकता है। कला-सृजन के लिये प्रेरक-भावना चाहिये। इस भावना की दिशा और स्वरूप युग और जीवन स्वयं स्थिर करेंगे।

क्या इस समय के अनिश्चय में, जहाँ राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय और व्यक्तिगत जीवन में अनेक प्रबल शक्तियाँ काम कर रहीं हैं, जीवन और युग की दिशा का निश्चित बोध सम्भव है। वस्तुतः इस समय जीवन इतना जटिल हो गया है कि हमारे शरीर के स्नायु और भावना इसको सहन करने में असमर्थ हैं। हमारा प्राण सरलता के लिये आकुल है। परन्तु इसके लिये पीछे जाना सम्भव नहीं। अपने मन और व्यक्तित्व के पुराने बन्धन और ग्रन्थियों को खोलना होगा। इन मनो-ग्रन्थियों को खोलने के लिये हिंसा न चाहिये, नहीं तो नई और अनिच्छित ग्रन्थियाँ बन जायगीं। अतएव सफल प्रगति वही है जिसमें सहयोग और अहिंसा द्वारा इनका उन्मूलन हो सके।

वस्तुतः ये ग्रन्थियाँ हैं हमारा जातीय, राष्ट्रीय, वर्ण सम्बन्धी अभिमान, धार्मिक मतान्धता और राजनैतिक मतवाद। हमें सम्पूर्ण उपाधियों को छोड़कर केवल शुद्ध मानवता का अनुभव होना चाहिये। विशुद्ध मानवता का अनुभव ही हमारी अर्थनीति अथवा राजनीति का आधार होना चाहिये। यही जीवन की सरल सरणि है जिसके लिये हमारे सारे प्राण लालायित हैं। मनुष्य को चाहिये कि विश्वव्यापी प्रगतिशील शक्तियों के सामने सिर झुकाये!

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

क्या मनुष्य अभिमान से उत्पन्न इन ग्रन्थियों को खोल सकेगा ? इसका उत्तर कलाकार दें, क्योंकि कला अपनी शक्ति से इनका निवारण कर सकती है। कला का निकट भविष्य भी यही है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

: ३ :

कला और मानव-व्यक्तित्व का विश्लेषण

आधुनिक मनोविज्ञान की एक शाखा मनो-विश्लेषण है। मनो-विश्लेषण के द्वारा मानव व्यक्तित्व के गूढ़तम स्तर और उसके शक्ति-स्रोत उद्भासित हो उठे हैं जिससे मानवी संस्थाओं, कला-कृतियों तथा अन्य आध्यात्मिक अभिव्यक्तियों के प्रारम्भ और विकास के समझने में सरलता हो गई है। इस पद्धति के अनुसार मनुष्य अपने व्यक्तित्व के जिस चेतन भाग से परिचित है वह उसकी सम्पूर्ण सत्ता का शतांश भी नहीं है। यह केवल गौण भाग है जो एक अचेतन अथवा अर्ध चेतन अन्तर्निहित प्रबल भित्ति पर ठहरा हुआ है। हमारी इच्छा और द्वेष, हर्ष और शोक, प्रेम और घृणा, उल्लास और चिन्ता, तथा नित नये रंग बदलने वाली मनोवृतियाँ जिनसे हम परिचित हैं वस्तुतः मूलभूत अचेतन वासना के निरन्तर घात प्रतिघात से उत्पन्न होती हैं। हमारी परिचित चेतनावस्था तो केवल रंग मंच है जहाँ इनका अभिनय होता है। किन्तु इनकी नेपथ्य भूमि जहाँ इनका वास्तविक रूप दिखाई देता है, इस रंग मंच के पीछे है जहाँ दर्शक की दृष्टि नहीं जाती। मानव व्यक्तित्व के आधार इस अचेतन और ओजस्वी तत्व का उद्घाटन वर्तमान युग का एक महान् आविष्कार माना जाता है।

काम-तत्व अथवा भोग-भावना——यही जीव सृष्टि की मूल वासना है। यह अक्षय और अमर तत्व है जो सम्पूर्ण जीव लोक को प्राणित और प्रेरित करता है। मनुष्य-शरीर, उसका मन, प्राण और बुद्धि——इसी कामना के "ज्वलित क्षण" हैं, किन्तु इनके "क्रोड़" में चिर निराशा, निरन्तर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अवसाद और वेदना का निविड़ तम घिरा हुआ है। यह अल्प जीवी मनुष्य अमर आशा का क्षुद्र स्फुल्लिग है। एक ओर तो प्रकृति की निर्धारित सीमायें और मानवी दुर्बलता इस भोग भावना की पूर्ण तृप्ति नहीं होने देतीं, दूसरी ओर सामाजिक बन्धन उसे विधि-निषेध के अनुशासन में बाँध रखते हैं। इतना ही नहीं, मनुष्य ने स्वयं 'अन्तःकरण' नाम की नैतिक शक्ति को उत्पन्न किया है जो उसकी कामना को समय-असमय टोकती रहती है। तीन दिशाओं से होने वाले इस निर्दय दमन के कारण मानव व्यक्तित्व में, परिचित और अपरिचित रूप में, घोर द्वन्द्व खड़ा रहता है। यह आन्तरिक 'संघर्ष', मनोविश्लेषण विज्ञान के अनुसार, मानव-व्यक्तित्व का रहस्य है।

साधारण जीवन में यह 'संघर्ष' यदा कदा ही उग्र होता है। अपने ही अन्तर में जलने वाली इस अतृप्त कामना की ज्वाला से घबराया हुआ मनुष्य इस संघर्ष को अस्वीकार करता है। किन्तु अस्वीकार करन से मनोविज्ञान के 'रूपान्तर सिद्धान्त' (Low of Conversion) के अनुसार यह संघर्ष अचेतन और भयंकर होकर चिन्ता, व्यग्रता, व्याकुलता, अक्षमता, भय, उत्कण्ठा, आत्मविश्वास का अभाव आदि विश्वव्यापी मानसिक व्याधियों का रूप धारण कर लेता है। और भी, 'भाव-विवर्त्तन सिद्धान्त' (Law of Emotional Transference) के द्वारा यह संघर्ष आन्तरिक केन्द्र को छोड़ कर धर्म, जाति, सम्प्रदाय अथवा किसी वस्तु या मत को अपना केन्द्र बना लेता है जिससे इसका वास्तविक रूप और कारण छिप जाता है। बाहरी वस्तुओं से हमारा राग और द्वेष का सम्बन्ध इसी आन्तरिक संघर्ष से ही निश्चित होता है।

ऐसे भी व्यक्ति हैं जो इस संघर्ष को स्वीकार करके भोग-भावना की तृप्ति का साधन खोज निकालते हैं। ये संसार के वीर, धैर्यशाली और प्रगतिशील व्यक्ति हैं जिनका मानसिक स्वास्थ्य दृढ़ है। दूसरे व्यक्ति

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कलाकार और दार्शनिक हैं जो अपनी उत्पादक शक्तियों द्वारा कलात्मक और आध्यात्मिक प्रतीकों की सृष्टि करते हैं। संगीत, वस्तु कला और साहित्य की सुन्दर कृतियाँ इसी काम-तत्व की कलात्मक तृप्ति के लिए कलाकार की उर्वर कल्पना की उपज हैं।

मानव-व्यक्तित्व का यह आधुनिक विश्लेषण है जिसका मुख्य सिद्धान्त है कि मनुष्य के चेतन और परिचित जीवन का आधार और नियन्ता एक अचेतन किन्तु अनन्त और प्रवल तत्व है जिसके विकास और तुष्टि के लिये सारा हृदय और मस्तिष्क व्यग्र है। हमारी सम्पूर्ण चेष्टा और कृतियाँ, बुद्धि और कल्पना इसी विकलता से परिपूर्ण है। कलाकार और दार्शनिक काल के घोर और सनातन स्रोत में "ठहर तनिक, ठहर ओ प्रवाह मेरे" की प्रार्थना करता है, इस अनन्त तत्व की झाँकी पाने के लिए। किन्तु उसे उत्तर मिलता है, "मैं काल हूँ; इस लोक को ग्रसने के लिए मेरी असंख्य जिह्वायें दिगन्त में प्रसृत हैं"।

काम-तत्व अथवा आत्म-विकास की भावना अथवा जीवन-शक्ति ही कला-जीवन का मूल आधार है। यदि हम तीनों को एक तत्व के विभिन्न रूप मानें तो कला के मूल को समझने में सुविधा होगी। कलाकार कभी तो काम-तत्व से प्रेरित होकर अनुराग मय सुन्दर प्रतीकों की रचना करता है। शकुन्तला, दमयन्ती, पौशिया आदि की सृष्टि परमाह्लाद की गूढ़ अनुभूति से हुई है। संगीत, काव्य, चित्र-कला, नृत्य आदि में कई कला-कृतियाँ रस की सजीव सृष्टि हैं। परन्तु चिर-वियोग मय संसृति में अनुराग और आनन्द विडम्बना भी हैं। अतएव कलाकार वियोग, व्यथा, और विकलता की अनुभूति से गोपी-गीत, मेघदूत, रति-विलाप, और सब से बढ़ कर चिर-वियोगी प्रेम के ज्वलन्त प्रतीक सीता और राम की सृष्टि करता है। कला के अधिकांश भाग को मानव-व्यक्तित्व के इस रूप से हम समझने में सफल हो सकते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उक्त पाश्चात्य-दर्शन में कुछ दोष भी हैं। यदि कला के द्वारा मनुष्य चिर-वासनाओं की उदात्त तृप्ति की खोज करता है तो कलाकार और रसिक दोनों ही भूले हुए हैं। कलाकार की 'शकुन्तला' यद्यपि किसी भी वास्तविक 'शकुन्तला' से प्रियतम और श्रेष्ठ है तो भी वह कल्पना की उपज है और वास्तविक आनन्दानुभूति के लिए असमर्थ है। माना कि मनुष्य अपने आत्मिक विकास के कारण कल्पना के द्वारा भी वही आनन्द अनुभव करता है जो वास्तविक पदार्थ से। फिर भी कल्पना-सृष्ट इन कला-कृतियों का आनन्द काल्पनिक ही होगा । तब तो मानना होगा कि कलाकार अपनी प्रतिभा द्वारा काल्पनिक जगत् की रचना कर हमें वास्तविकता से दूर ले जाता है। यह हमारे समस्त मानसिक विकारों का कारण है, क्योंकि 'वास्तविक' को छोड़ कर 'काल्पनिक' की खोज करना हमारी संकल्प-शक्ति की दुर्बलता का सूचक है। यही कारण है कि कई आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने कला को विकृत भ्रम और मृग-मरीचिका की नाईं केवल उद्विग्नता, उत्ताप और अतृप्ति बढ़ानेवाला बताकर इसकी अवहेलना की है।

कला को वास्तविक अथवा काल्पनिक भोग-तृप्ति का साधन मानने में एक और भी दोष है। मानव-व्यक्तित्व के विकास में हमारे बुद्धि-तत्व की उत्तरोत्तर प्रदीप्ति होती गई है, जिससे उसे 'वास्तव' का ज्ञान अधिक होता गया है। पुराण-काल में कल्पना-जीवी मनुष्य की तात्विक दृष्टि संकुचित थी जिसके फलस्वरूप पौराणिक गाथाओं, धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियों और विश्वासों का जन्म हुआ। उद्बुद्ध अग्नि की ज्वालामय कणिकायें रवि-रश्मि के साथ मिल कर एकाकार हो जाती हैं। इन्हीं कणिकाओं के सहारे मृतक के अमर प्राण सूर्य लोक को जाते हैं। तब क्यों न प्राणों के साथ ग्रथित प्राण-वल्लभा उसी चिता-सोपान से स्वर्ग में जा कर पति की अंक-शायिनी हो सकती है? अवश्य ही सती-प्रथा के प्रारम्भ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में रश्मियों द्वारा स्वर्गारोहण की 'वास्तविक' अनुभूति लोगों को हुई होगी। किन्तु हमारे मानसिक-विकास के क्रम में सिद्ध हुआ कि यह 'वास्तविक' केवल कल्पना का फल था। तात्पर्य यह है कि कला में काल्पनिक की भित्ति अवश्य ही किसी वास्तविक अनुभूति पर खड़ी होती है। यदि हमारी कलात्मक रसानुभूति काल्पनिक भ्रम हो और उसके प्रतीक भी कल्पना जन्य हों तो बुद्धि उन्हें ग्रहण न कर सकेगी। तब तो कला हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व की न तो तृप्ति ही कर सकती है और न कला का जन्म मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति ही मानी जा सकती है।

पाश्चात्य दर्शन के अनुसार हमें मानना होगा कि बुद्धि के संकोच द्वारा ही कला का जन्म होता है। बुद्धि के संकोच से व्यक्तित्व का संकोच और ह्रास होगा ही। तब तो यही निष्कर्ष हमारे सिर पड़ेगा कि कला-सृजन और कला-अनुभूति दोनों ही मानव-जाति के ह्रास के लिए हैं,और बौद्ध-तत्व के उत्तरोत्तर विकास के साथ कला-सृजन और आस्वादन के लिए अवसर ही न रह जायगा। यदि यह नियम हमें अमान्य है तो मानव-व्यक्तित्व का रूप कुछ और ही मानना आवश्यक होगा। यदि कला हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होने के कारण हमारे सम्पूर्ण अन्तरात्मा को ग्राह्य है तो उसे तत्वानुसन्धायिनी बुद्धि और रागात्मिका-भावना दोनों की तुष्टि के लिए 'वास्तविक' और 'काल्पनिक' दोनों तत्वों का सजीव और सुदृढ़ सामञ्जस्य करना चाहिए। उसी दशा में कला का सम्बन्ध विकासशील जीवन के साथ सम्भव है।

मानव-व्यक्तित्व का तब वह कौन सा स्वरूप है जिसके आधार पर हम प्रगतिशील कला-विज्ञान का निर्माण कर सकें?

पाश्चात्य मनोविज्ञान के मतवाद और हमारे दृष्टिकोण इस विषय में सहमत हैं कि मनुष्य के परिमित और परिचित व्यक्तित्व का आधार अवश्य ही अपरिमित और चिरन्तन तत्व है। दोनों ही मानते हैं कि यह मूल तत्व

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रबल है और अपनी शक्ति से परिमित व्यक्तित्व का निर्माता है। परन्तु पाश्चात्य दर्शन के अनुसार यह आधार-तत्व निबिड़तम रात्रि की भाँति घन अन्धकारमय है; शून्य की भाँति अनिर्वचनीय है; ज्वालामुखी के उदर की नाईं प्रकाण्ड तेज से प्रदीप्त है। यहाँ गति है, परन्तु दिशायें नहीं है; यहाँ परिवर्तन है, परन्तु काल-चक्र का रोध नहीं है; प्रवाह है, परन्तु तट नहीं है। यह अचेतन है, परन्तु चेतना का मूल स्रोत और सृष्टा है। यहाँ नियम नहीं, विधि-निषेध नहीं, पाप-पुण्य नहीं, वास्तविक और काल्पनिक का भेदवाद नहीं। यहाँ केवल काम है, तृप्ति के साधन नहीं। यह मूल तत्व 'वास्तविकता' से अपना सम्बन्ध स्थापित करता है तृप्ति पाने के लिए। इसीलिए यह परिमित, निश्चित दिशा, काल और कार्य-कारण सम्बन्ध को समझने वाले एक बुद्धि यंत्र का आविष्कार करता है। हमारा परिमित व्यक्तित्व उसी अपरिमित मूल-कामना की तृप्ति का साधन मात्र है। धर्म, कला और विज्ञान उसी तृप्ति के विभिन्न रूप हैं। नीति और समाज के नियम उसी नियमहीन को नियमित और नियंत्रित करने के लिए प्रयत्न हैं।

भारतीय दर्शन को यह मान्य नहीं है, और जैसा पहले कहा जा चुका है, इसके मानने से हम कलानुभूति का सच्चा स्वरूप नहीं समझ सकते। भारतीय मत में हमारे लघु, ससीम सांसारिक जीवन का आधार असीम ब्रह्म तत्व है। ब्रह्म अचेतन नहीं है, परन्तु चेतना का अखण्ड और अनन्त निधान है। वह आनन्द स्वरूप है जिसके सामने विषय-सुख फीका है। सांसारिक सुख उसी सुख की एक मायिक झलक है। ज्यों ज्यों हमारे व्यक्तित्व का विकास होता है आनन्द और प्रभा के नवीन स्रोतों का हमारे जीवन में आविर्भाव होता है कलात्मक रचनायें उसी अनन्त आनन्द की झलक हैं; उसी चेतन को अचेतन के द्वारा, असीम को ससीम के द्वारा, अविज्ञेय को विज्ञेय के द्वारा, अरेख, अवर्ण, अरूप, अशब्द को रेखा, वर्ण,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रूप और शब्द के द्वारा ढालने के लिए क्रान्त दर्शी कवियों का अमर प्रयत्न है।

यह वेदान्ती भावना केवल उड़ान नहीं है। जीवन की कई अनुभूतियों का स्वरूप इसके विना नहीं समझा जा सकता। हमारे जीवन का आधार भूत ब्रह्मतत्व ही कला-सृजन और कला-अनुभूति का मूल स्रोत है। ज्यों ज्यों इस आधार का प्रस्फुरण होता है, त्यों त्यों जीवन का विकास और उसमें रस की कलामय स्मूर्ति होती है। मनुष्य अपने व्यक्तित्व में "मैं" और "मेरी" की भावना से समष्टि जीवन का दमन और संकोच करता है। कला का उदय सीमित व्यक्तित्व में नहीं होता। कला का विकास और मानव-जीवन की पुष्टि और संवर्द्धन दोनों ही साथ चलती हैं। मानव-प्रकृति के इस स्वरूप के साथ उसके कलात्मक जीवन का सामञ्जस्य हो सकता है। बुद्धि के विकास द्वारा हमारी तत्व दृष्टि स्पष्ट और पुष्ट होती है। विश्व-इतिहास, जन-समाज, और विराट्-प्रकृति के सुन्दर और रौद्र, दूर और समीप तथा सूक्ष्म और स्थूल विभागों में तरंगित सनातन जीवन की लहर—इसको बुद्धि के सहारे ही भावना हृदयंगम कर पाती है। वर्त्तमान युग की नवीन गवेषणाओं और वैज्ञानिक आविष्कारों से कला-चेतना को स्फूर्ति और प्रेरणा मिलनी चाहिए। कला-सृजन और आस्वादन के लिए विज्ञान ने हमारे सम्मुख विशाल और नवीन सीमाओं को खोल दिया है। इससे यह मत और भी पुष्ट होता है कि परिमित मानव जीवन की आधार-भित्ति अनन्त और अपरिमेय ब्रह्म चेतना है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

: ४ :

अन्तर्भावना

कला में तृप्ति अथवा सुख का क्या स्वरूप है? उसे अनुभव करने की क्या रीति है?

इनमें से पहले प्रश्न का उत्तर अन्यत्र दिया जा चुका है। यहाँ हम यह मान कर चलते हैं कि कला एक विशेष अनुभूति उत्पन्न करती है जिसे हम 'आनन्द' कह सकते हैं। प्रस्तुत अंश में हमारा सम्बन्ध केवल दूसरे प्रश्न से है।

प्रश्न का उत्तर पाने के लिए इसे अधिक स्पष्ट करना होगा। कला के अनुभव में--चित्र, मूर्त्ति अथवा वस्तु को देखने में अथवा संगीत, नृत्य, काव्य आदि सुनने में—किसी बाह्य वस्तु से सम्पर्क अवश्यम्भावी है। हमारा साधारण अनुभव भी रूप, रस, गन्ध आदि का प्रत्यक्ष वस्तु के सम्पर्क से होता है। इस साधारण सम्पर्क और कलात्मक सम्पर्क में भेद अवश्य है, क्योंकि प्रथम का प्रयोजन व्यवहार के उपयोगी ज्ञान का सम्पादन और दूसरे के द्वारा हृदय में रस और माधुर्य का संचार होता है। कलात्मक सम्पर्क के द्वारा हमारे मानस में किन क्रियाओं का संचालन प्रारम्भ होता है जिससे इस माधुर्य की सृष्टि होती है, जिससे उत्तेजना अथवा उत्पीड़न के स्थान पर उत्साह और उमंग की वृद्धि होती है? यही प्रश्न यहाँ विचारणीय है।

यह प्रश्न दूसरे प्रकार से भी उठता है। कला के अनुभव में एक ओर रसिक प्रेक्षक है, और दूसरी ओर कलाकार की कृति है। कला-कृति और साधारण वस्तु में क्या अन्तर है, यह महत्वपूर्ण विषय है जिसका उत्तर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यथास्थान दिया जा चुका है। परन्तु रसिक की मानसिक अवस्था कलानुभूति के अवसर पर और उसकी साधारण अवस्था में क्या अन्तर है ? यह प्रश्न यहाँ उपस्थित है। कलानुभूति मानो दो ध्रुवों पर स्थित एक प्रक्रिया है जिसका एक ध्रुव कला-कृति और दूसरा रसिक है। इस प्रक्रिया को समझने के लिए आवश्यक है कि दोनों की रूपरेखा का स्पष्टीकरण हो। हमारे प्रस्तुत प्रश्न में रसिक के मन का वैज्ञानिक विश्लेषण और अनुसन्धान है।

कला में रसिक की आनन्दानुभूति का मानसिक विश्लेषण यूरोप में सर्व प्रथम वुन्ट नामक जर्मन मनोवैज्ञानिक ने किया। उसने इस चित्त-क्रिया का नाम "आइनफ्यूलुंग" (Einfuhlung) रक्खा जिसका अंग्रेजी अनुवाद 'इनफीलिंग' अथवा 'एम्पेथी' (Infeeling Empathy) है। हमने इसका हिन्दी अनुवाद 'अन्तर्भावना' किया है। इस क्रिया का विवेचन दो प्रकार से किया जा सकता है।

हमारे साधारण प्रत्यक्ष अनुभव में स्मृतियों का सम्मिश्रण अवश्य रहता है। 'यह चम्पक पुष्प है' इस प्रत्यक्ष ज्ञान के पीछे चम्पक के स्वरूप का ज्ञान, उसकी सुगन्धि, कोमलता , शीतलता, और स्वच्छता आदि गुणों का परिचय अवश्य है जो स्मृति रूप में विद्यमान है। स्मृतियों के सम्मिश्रण के बिना हमारा अनुभव केवल सुदूर सम्पर्क मात्र होगा; प्रत्यक्ष ज्ञान में उत्पन्न होने वाले स्पर्श, रूप, गन्ध आदि की ज्वलन्त अनुभति न होगी। प्रत्येक स्मृति न केवल 'अतीत' की झाँकी मात्र है, परन्तु साथ ही वह 'अनागत' को भी अवगत करती है। पूर्व स्मृतियों के कारण स्पर्श किये बिना ही 'चम्पक' की कोमलता का अनुभव, उसकी गन्ध का आस्वादन केवल देखने पर कर लते हैं। अतः चम्पक के प्रत्यक्ष दर्शन से हमारी सम्पूर्ण स्मृतियाँ सजग हो उठती है और हमें आनन्द का अनुभव होता है। वर्त्तमान मनोविज्ञान का यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि प्रत्यक्ष में स्मृतियों के 'अतीत'

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और 'अनागत' को अवगाहन करने वाला सम्मिश्रण ही प्रत्यक्ष को उसको सारी सम्पद् प्रदान करता है। फलतः प्रत्येक प्रत्यक्ष अनुभव में पूर्व स्मृतियों का उद्रेक, नवीन कल्पनाओं का जागरण, कोमल आशाओं का उत्थान विद्यमान है।

प्रत्यक्ष अनुभूति में मनोगति सरल नहीं होती। मानसिक प्रवाह में स्मृतियों और आशाओं का संश्लेष होता है। परन्तु प्रत्यक्ष का साधारण प्रयोजन व्यवहार की सफलता है; इसलिए साधारण प्रत्यक्ष में जहाँ तक सम्भव हो मनोगति का सरल होना ही आवश्यक है। स्मृतियों और आशाओं के आवेग से प्रत्यक्ष के आवृत होने का भय है। इसलिए अपने व्यवहारिक अनुभव में हम इस आवेग को कम ही होने देते हैं। कल्पना कीजिये––एक नाविक नाव को खेते समय यदि लहरों के चंचल कलमल टलमल संगीत में मस्त हो जाये और कल्पना की उड़ान में, स्मृतियों के प्रवाह में,प्रत्यक्ष से दूर हो जाय तो उसकी नौका की क्या दशा होगी? इसीलिए नाविक मानो नदी के सौन्दर्य से मनोवेग को दूर कर अपनी नाव को पार लगाता है। उस नाव में बैठा हुआ व्यक्ति जिसे उस समय कोई व्यवहार की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती, नदी के सम्पूर्ण दृश्य को आँखों और कानों में भर कर आन्नद ले सकता है।

सौन्दर्य-आस्वादन का प्रथम नियम है : व्यवहारिक प्रवृत्ति का तत्काल निमेष अथवा संकोच। व्यवहार की सफल प्रवृत्ति के लिए शरीर और मन में कुछ 'तनाव' आवश्यक है क्योंकि प्रत्येक क्रिया से किसी परिस्थिति का सामना करना होता है। 'तनाव' की अधिकता जैसा व्यग्रता और व्यथित अवस्था में हो जाता है, व्यवहार के लिए उपयोगी नहीं है। उसी प्रकार 'तनाव' का अभाव भी सफल व्यवहार के लिए अहितकर है। सौन्दर्य-आस्वादन के अवसर पर व्यवहार के लिए आवश्यक 'तनाव' का स्थगित होना आवश्यक है। इस अवसर पर स्मृतियों का निरोध जो व्यवहारिक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सम्पर्क में वांछनीय था सौन्दर्य के प्रत्यक्ष आस्वादन क लिए दूर हो जाता है। तब तो हमारा कलात्मक-प्रत्यक्ष-सम्पर्क स्मृति और कल्पना के तरल प्रवाहों से परिप्लावित हो उठता है। कला-आस्वादन में प्रवाहों के वेग से मनोधारा तीव्र और जटिल होती है। रसिक कला-वस्तु को एक निमेष के लिए देख कर कल्पनाओं के सुन्दर आलोक में जगमगा उठता है और बारम्बार उसी वस्तु पर लौट कर आता है। चित्त की यह क्रिया—अवधान का यह आकर्षण-विकर्षण, मनोवेगों का यह अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी प्रवाह—ही मनोविज्ञान में अन्तर्भावना कहलाती है।

इसके समझने का दूसरा प्रकार भी है। हमारे प्रत्यक्ष अनुभव में हमें 'वस्तु' और उसके गुणों का ज्ञान होता है। एक ध्वनि के सुनने पर 'वह ध्वनि कहाँ से और किससे उत्पन्न हुई है' इत्यादि का ज्ञान होता है। परन्तु इस प्रत्यक्ष में श्रोता और शब्द का किसी स्थान पर 'मिलन' आवश्यक है। यदि शब्द का ज्ञान केवल व्यवहार के लिए ही उपयुक्त हो तो यह 'मिलन' क्षणिक ही होता है और क्षण के अनन्तर क्रिया का प्रारम्भ हो जाता है। परन्तु यदि ध्वनि में माधुर्य है और व्यवहार के लिए प्रेरणा नहीं है तो यह श्रोता और शब्द का मिलन देर तक होता है और इसमें श्रोता अपनी सत्ता को शब्द की सत्ता में विस्मृत कर देता है। श्रोता के द्वारा यह 'मिलन' और 'आत्म-विस्मृति' एक ओर तो ध्वनि के गुणों की गम्भीर अनुभूति उत्पन्न करती हैं जो साधारण प्रत्यक्ष में सम्भव नहीं, दूसरी ओर चेतना में नवीन स्फूर्ति का उदय और रस प्रवाहों का उद्रेक उत्पन्न करती है जो साधारण विषयों के भोग से सम्भव नहीं।

चेतन जीवधारी में 'मिलन' और 'मग्न' होने की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। 'तन्मयता' के द्वारा ही वस्तु के गुणों का ज्ञान हमारे चेतन मन को होता है। व्यवहार के लिए यह तन्मयता क्षणिक ही आवश्यक है। परन्तु सौन्दर्य-आस्वादन में हृदय का बारम्बार उन्मज्जन और निमज्जन होता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है। निमज्जन से तन्मयता और तन्मयता से वस्तु के गुणों का—ध्वनि, वर्ण, रेखा आदि के स्वरूप का—जाज्वल्यमान अनुभव उत्पन्न होता है। परन्तु रसिक को केवल तन्मयता से आनन्द प्राप्त न होगा। आत्म-विस्मृति के अनन्तर आत्मा का संवरण भी आवश्यक है आस्वादन के लिए। इसलिए 'निमज्जन' और 'उन्मज्जन', 'आलोडन' और 'विलोडन' की बारम्बार होने वाली क्रिया ही सौंदर्य-आस्वादन में आनन्द की उत्पत्ति करती है। इसी का नाम 'अन्तर्भावना' है।

'चित्त का वस्तु के गुणों में पुनः पुनः निमज्जन और उन्मज्जन' अथवा 'मनोवेगों का अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी आकर्षण और विकर्षण' यह सौन्दर्य आस्वादन में मूल मानसिक क्रिया है। इस विषय में विभिन्न विद्वानों की सहमति है। यह क्यों होता है ? इस विषय में कई मतवाद हैं। फ्रौयड नामक मनोविज्ञान के पंडित का कथन है कि कला का अनुभव प्रौढ़ के मानसिक स्तर पर सम्भव नहीं। कलानुभूति के लिए प्रौढ़ को भी शिशु के स्तर पर उतरना पड़ता है। कला का अनुभव शिशु की दृष्टि से देखे गये जगत् का अनुभव है। शैशव के अनुभव में समय, सीमा और कारण-कार्य के बन्धन नहीं होते। अतः कलानुभूति अथवा शिशु-अनुभूति में समय और सीमा के बन्धन तोड़ने की सनातन प्रवृत्ति विद्यमान रहती है। इसीलिए 'निमज्जन' कला–अनुभव का मुख्य अंग है।

यूँग नामक विद्वान् के अनुसार हमारा शैशव-काल, सृष्टि का आदि युग और मानव-व्यक्तित्व का असीम, अचेतन आधार, तीनों समान नियमों से बन्धे हुए हैं। एक ओर तो विकास के नियमों के अनुसार क्रिया सम्पादन के उद्देश्य से व्यक्ति के लिए निरन्तर प्रेरणा मिलती है जिससे वह संसार मार्ग पर अग्रसर होता रहे, दूसरी ओर शैशव की स्मृति, नियम-हीनता का सुख, व्यथा और व्यग्रता से मुक्ति, स्वच्छन्दता आदि मानो उसे 'माता'

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की गोद की ओर आह्वान करते हैं। एक ओर व्यवहार के लिए कठोर कर्म का निरन्तर आदेश, दूसरी ओर शिशुता का उन्मुक्त हास, मानव व्यक्तित्व का यह द्वन्द्व एक ओर संसार की प्रगति का सृष्टा है तो दूसरी ओर काव्य और कला के आनन्दमय लोकों का विधाता है। शिशु का व्यक्तित्व अनन्त और अचेतन है। हमारे परिमित और परिचित व्यक्तित्व का आधार भी वही अनन्त और अचेतन तत्व है। मानो सीमा की लघुता से व्यग्र होकर हमारा परिमित व्यक्तित्व अपने अपरिमेय स्वरूप में विलीन होना चाहता है। हमारी 'विलीन होने की प्रवृत्ति' ही अन्तर्भावना है जो कला में सौन्दर्य आस्वादन की जननी है। अन्तर्भावना के मूल में यह लय-प्रवृत्ति मानो मातृत्व में विलीन होने की शैशव प्रवृत्ति है जिससे कलानुभूति का उदय होता है।

भारतीय दर्शन में इस लय-प्रवृत्ति के विषय में महत्वपूर्ण विचार हैं।

भारतीय कला-विज्ञान का आधार अधिकतः वेदान्त है। इसके अनुसार चित्त प्रवृत्तियों का प्रवाह है; परन्तु यह प्रवाह सत्व गुण के कारण स्वच्छ है जिसमें बाह्य वस्तुओं की स्पष्ट झाँकी उतर आती है। चित्त, वस्तु और चित्त की क्रिया, तीनों अनन्त चेतना समुद्र में उत्थान-पतनशील लघु लहरें हैं। जिस समय चित्त वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करता है, वह स्वयं वस्तु रूप हो जाता है, ठीक उसी प्रकार जैसे कुल्या (जल-प्रवाह) द्वारा निकला हुआ जल केदार (खेत) का त्रिभुज अथवा चतुर्भुज आदि स्वरूप ग्रहण कर लेता है। चित्त की यह लयात्मक प्रवृत्ति स्वाभाविक है, क्योंकि 'तन्मय' होकर ही ज्ञान का संचय होता है। परन्तु अभिमान आदि दोषों के कारण तन्मयता इतनी अधिक नहीं होने पाती कि वस्तु का स्वरूप स्पष्ट-तम अंकित हो सके। केवल शुद्ध भावनाओं की जागृति से जब मनोवेग शान्त होते हैं तभी लयात्मक प्रवृत्ति का अधिक आविर्भाव होता है। लय से आनन्द की उत्पत्ति होती है। यदि हमारा चित्त साधा-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रण वस्तु को छोड़ कर अनन्त और अमृत तत्वों में लय हो सके तो आनन्द भी अनन्त होगा। अतएव वेदान्त के अनुसार चित्त-लय सम्पूर्ण आनन्द अनुभवों का मूल स्रोत है। कला-अनुभव क सुख का आधार भी चित्त की लय-प्रवृत्ति ही है।

उपनिषद् में 'पंच कोश' सिद्धान्त है जिसके अनुसार हमारा वास्तविक स्वरूप कोशों से तिरोहित रहता है। पहला कोश हमारा स्थूल शरीर है जिसका नाम 'अन्नमय कोश' है। इसकी सत्ता, सौन्दर्य और सुख का आश्रय 'प्राणमय कोश' है जो अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म और सजग है। परन्तु इस कोश का आधार 'मन' है जो आशा, उद्वेग, कामना आदि वेगों से प्राणों का संचालन करता है।' मनोमय' कोश' से भी सूक्ष्म 'विज्ञानमय' कोश है जहाँ बुद्धि का साम्राज्य है। इस कोश में प्रतिभा का प्रकाश है जिससे विश्व की आगमापायिनी चल सम्पद् तथा राग द्वेष को शान्ति मिलती है। इस बुद्धि के वैभव से सांसारिकता दुर्बल होती है और आनन्द का नवीन स्रोत, प्रकाश के नवीन दिगन्त प्रकट होते हैं। इस कोश का आधार भी 'आनन्द' है जो अनुभव सांसारिक सुख से बिल्कुल भिन्न है। यह सुख तभी प्राप्त होता है जब सृष्टि-प्रवाह से सुख-दुःख, पाप-पुण्य आदि द्वन्द्वों का उपराम हो जाता है। वस्तुतः ये पांचों कोश जीवन के पांच स्तर हैं जिनमें से अन्तिम स्तर सबका आधार और 'आनन्द' का मूल है। उस स्तर तक पहुँचने के लिए शरीर की जड़ता, प्राणों का नियम, मन के उद्वेग और बुद्धि की सीमायें विच्छिन्न अथवा विस्मृत हो जानी चाहियें। भारतीय दर्शन के अनुसार कला और समाधि, विचार और भक्ति, तप आदि सभी साधनों का उद्देश्य उसी अनन्त, अखण्ड और अनिर्वचनीय 'आनन्द' के आगार तक पहुंचने के लिए है। एक कोश से दूसरे कोश तक पहुँचने की क्रिया का स्वरूप मनोविज्ञान की भाषा में 'अन्तर्भावना' है जिससे हमारा लय उत्तरोत्तर गम्भीर आनन्द में होता जाता है। कला, हमें अपनी सौन्दर्य-सामर्थ्य द्वारा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अन्तिम कोश तक पहुंचाती है जिसका अर्थ है कि हमारा सीमित व्यक्तित्व 'असीम' में 'मग्न' हो जाता है।

पंडितराज जगन्नाथ आदि विद्वानों ने तो रस की परिभाषा ही 'भग्नावरणा चित्' की है जिसका अर्थ है कि हमारा चित् (चेतन) आत्मा अपनी साधारण अवस्था में व्यक्तित्व के बन्धनों से बंधा रहता है। 'मैं यह हूँ, और यह हूँगा" ये अहंकार से उत्पन्न होने वाले 'तनाव' जो व्यवहार सम्पादन के लिए आवश्यक हैं, हमारे जीवन के स्वाभाविक आनन्दमय प्रवाह को मानो सीमित कर देते हैं। हमारे व्यक्तित्व के आवरण—शोक, अभिमान, चिन्ता आदि—हमारे असीम चेतन स्वरूप को आनन्द से वंचित रखते हैं। इस आवरण के भंग द्वारा भोग-वासना से पीड़ित चित्त को वास्तविक सुख का अनुभव होता है। इसलिए भारतीय दर्शन में कला द्वारा सुख की उत्पत्ति आवरण भंग द्वारा ही मानी गई है। सीमित व्यक्तित्व जब आवरण को तोड़ कर सुख के अनुभव की ओर अग्रसर होता है तो मानो वह असीम आनन्द के समुद्र में 'लय' होने लगता है। यह 'लय' ही काव्यानन्द का मूल उद्गम है।

यह 'लय' निद्रा से भिन्न है, क्योंकि निद्रा में संज्ञा-शून्य विस्मृति है। परन्तु 'लय' प्रवृत्ति में चेतना का उदय और विकास है जो हमारी साधारण अवस्था में आच्छन्न रहता है। नवीन चेतना के स्फोट से सीमा-शृंखलाओं का टूटना और नवीन क्षितिजों के पार से अनन्त आनन्दमय प्रवाहों और स्मृतियों का आविर्भाव होता है। इस अवस्था में संसार के भय और उद्वेग भी आनन्दमय करुणा का रूप धारण करते हैं; जगत् का उत्ताप और उत्पीड़न, मृत्यु, विनाश और क्षय, उस चेतना के अखिल प्रवाह में लघु लहरियों का सा उत्थान और पतन करते हैं। यही कारण है कला जगत् में आनन्दमय स्वरूप का उद्घाटन करती है। कलाकार कला-कृति द्वारा आनन्दमय विश्व की ही सृष्टि करता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'लय' शून्य अवस्था नहीं है; पर यह समाधि से भिन्न है। समाधि में वस्तु से सम्पर्क नहीं होता; वहाँ केवल आत्म-प्रकाश और आत्मानन्द है। अभ्यास के द्वारा शरीर-संज्ञा का प्राणों में विलय हो जाता है; प्राणों का मन के स्वरूप में विलय होता है। संसार के आदि और अन्त को यथार्थ रूप से समझने वाली बुद्धि का उदय होने पर मन के उद्वेग, कामना और आशायें शान्त समुद्र में लहरों की भाँति उपराम हो जाती हैं। इस बुद्धि में स्वतः ही एक विशिष्ट ज्योति और आनन्द का स्रोत बहने लगता है जिससे सांसारिक सुख की तुलना नहीं की जा सकती। परन्तु समाधि का लोकोत्तर अनुभव निरन्तर अभ्यास और वैराग्य से उत्पन्न होता है। इसके विपरीत कला में वस्तु का सौन्दर्य इतना शक्तिशाली होता है—वस्तु के आकार-प्रकार, वर्ण, रेखा, आरोह-अवरोह, आदि इतने व्यापक प्रभावशाली होते हैं—कि शरीर, प्राण, मन और बुद्धि स्वयं ही उस आनन्द-चेतना के आधीन हो जाते हैं। पाश्चात्य मनोविज्ञान ने जिसे अन्तर्भावना कहा है, वह वस्तुतः जीवन की लय प्रवृत्ति ही है। यह वृत्ति कला-आस्वादन का आश्रय है।

'अन्तर्भावना' के भारतीय विवेचन से कला में आनन्द के 'स्तर' का स्पष्टीकरण भी हो जाता है। शरीर के लिए कला-सुख प्राप्य नहीं है; नहीं तो कला-सुख और विषय में अन्तर न होगा। शरीर का प्राणों में लय कर देने वाली सौन्दर्य-शक्ति है जो अधिकतः वीर-रस के काव्य अथवा केवल 'ताल' और 'गति' सम्पन्न संगीत से उदय होती है। नृत्य, उपन्यास, गान आदि कला के द्वारा कभी कभी मन में संस्कार और वेगों के रूप में रहने वाली अनन्त स्मृतियों और कामनाओं का उद्रेक होता है। उस समय मन में ही शरीर और प्राण विस्मृत और विलीन हो जाते हैं। यह मानसिक स्तर पर होने वाला कला का सुख है। शान्त आदि रस मय काव्य, संगीत, चित्र और मूर्त्ति के द्वारा कभी लोकोत्तर शान्त-प्रकाश का उदय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होता है,--विशेषतः धार्मिक कला-कृतियों द्वारा,--वह कला का उच्चतर सुख है। कला का उच्चतम सुख इससे भी ऊपर है जहाँ केवल आनन्द और सौन्दर्य है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

: ५ :

'सुन्दर' की कुछ परिभाषायें

क्या 'सुन्दर' किसी मनोगत भाव का नाम है अथवा वस्तु में निहित कोई तत्व है ? यदि 'सुन्दर' कोई मनोगत भाव अथवा भावों का सामंजस्य है तो कलाकार की कृति का कलानुभूति में क्या महत्व है ? केवल भावों के उद्रेक से वस्तु की अपेक्षा न रख कर भी सुन्दर का अनुभव सम्भव होना चाहिए । यदि यह मनोगत भाव नहीं है तो कलाकार और रसिक का अनुभव केवल भ्रम मानना होगा। दूसरी ओर, यदि 'सुन्दर' केवल वस्तुगत गुण है तो सभी को इसका समान आभास होना चाहिए जैसे वस्तु के आकार, परिमाण, रंग आदि का होता है। यदि 'सुन्दर' वस्तुगत तत्व नहीं है तो कलाकार का सृजन-श्रम व्यर्थ है। फलतः मानना होगा कि 'सुन्दर' को केवल मनोगत भाव अथवा वस्तुगत गुण समझना सरल नहीं है । वस्तुतः किसी वस्तु विशेष के सम्पर्क से विशेष मानसिक प्रतिक्रियाओं की जागृति ही 'सुन्दर' कहलाई जा सकती है । अतएव जिन दार्शनिक विद्वानों ने 'सुन्दर' को समझने का प्रयत्न किया है वे या तो 'वस्तु विशेष' का अथवा 'विशेष मानसिक प्रतिक्रिया' का विश्लेषण करते हैं।

पहले हम 'वस्तु विशेष' जिसे सुन्दर कहते हैं समझने का प्रयत्न करेंगे।

सुन्दर वस्तु, इस दृष्टि कोण से, अपने अंगों का समुदाय विशेष है। भिन्न होते हुए भी इन अंगों में सामञ्जस्य और संगति उस वस्तु के सौन्दर्य का रहस्य है। अंगों की इस संगत रचना को सन्निवेश, संयोजना अथवा संघटना कहा गया है। वामन पंडित ने 'सुन्दर' संघटना के दस भेद अथवा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गुण बताये हैं, उनमें से कुछ ये हैं: सर्व प्रथम श्लेष है। श्लेष का अर्थ है : जब अनेक अवयव इस प्रकार बन्ध में गृथित हों कि एकता की प्रतीति हो, उसे श्लेष कहते हैं। संगीत और नृत्य में स्वरों और अंगहारों की संगति अनेक होते हुए भी एकता की प्रतीति उत्पन्न करती है, इसलिए यह सुन्दर है। भरत के अनुसार एकता का अनुभव जलते हुए कोयले को घुमाने से जो चक्राकार मार्ग का अनुभव होता है उसी प्रकार इसका भी अनुभव होता है। अंगों का परस्पर संश्लेष और अंगी के साथ तादात्म्य—यह कला में सौन्दर्य उत्पन्न करता है। सौन्दर्य के इसी श्लेष गुण से 'सापेक्षा' और 'संतोल' आदि गुणों की उत्पत्ति होती है।

अवयवों का संश्लेष घनिष्ठ होते हुए भी इतना भ्रामक होना उचित नहीं कि उनकी सत्ता ही नष्ट प्रायः हो जाय। संगीत में प्रत्येक स्वर, अंग और अंगी दोनों ही रूप से स्पष्ट अनुभव किया जाना चाहिए। प्रत्येक स्वर अपने ही माधुर्य के कारण सुन्दर है, संगीत की संगति में पड़कर वह सुन्दरतर हो जाता है। प्रत्येक स्वर का स्वर-प्रवाह में स्पष्ट अनुभव ही 'माधुर्य' है। यदि स्वर और रेखा आदि की संगति सजीव और गतिमय है और वह 'नृत्य करती हुई सी' अग्रसर होती है तो वह गुण 'उदारता' कहलाता है। यदि इस गुण का उत्थान और पतन किसी गणित सिद्धान्त के अनुसार हो तो यह संघटना में 'समाधि' गुण कहलाता है। इस भाँति सुन्दर वस्तु में अंगों का संयोजन विशेष नियमों के अनुसार होना चाहिए जिससे गति, ताल, संगीत और लय उत्पन्न हो सकें। सौन्दर्य का रहस्य ही यह है कि कलाकार के अनजाने ही अवयवों की संयोजना सुदृढ़ और गणित के नियमों से बंधी हुई होती है।

रूप गोस्वामी ने 'सुन्दर' की वस्तुगत कई परिभाषायें की हैं। सर्व प्रथम 'रूप' है। अवयव जिस समय संघटित होकर 'एक' का निर्माण करते हैं तो उस समय एक नवीन गुण का आविर्भाव उनमें होता है जो

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अवयवों में पहले न था। यह विशेष, नवीन गुण अंगों में पृथक् विद्यमान न होत हुए भी उन्हीं से उत्पन्न हुआ है और अपनी प्रभा से उनको दीप्त करता है। स्वर की एक तान संगति से एक नवीन दीप्ति का उदय होता है जिसका नाम 'रूप' है।

'रूप' वस्तु का स्थिर गुण है। जब 'रूप' जागरूक होकर तरंगायमान होता है और अपनी गति और कान्ति से अवधान को आकर्षित करता है तो वह 'लावण्य' कहलाता है। चित्र और वास्तु कला में भी जो स्थिर पदार्थ हैं रेखा और परिमाण अपने ओज और गति के कारण 'तरंग' अथवा 'नृत्य' का आभास उत्पन्न करते हैं। गायन और नृत्य में और चेतन जीवधारियों में तो 'लावण्य' का पाया जाना स्वाभाविक है। 'सौन्दर्य' भी रूप गोस्वामी के अनुसार वस्तु का गुण है। जब चित्र आदि कला-वस्तु में अवयवों का संयोजन और सम्मिलन 'उपयुक्त' और 'उचित' हो अर्थात् किसी प्रकार विरोधी दुष्ट भावनाओं को न उठायें तो वह कला-वस्तु सुन्दर कहलायेगी। और भी, अवयवों का सम्मिलन इतना सुदृढ़ होना चाहिए कि उनके बीच में सन्धि बन्ध प्रतीत न हों। किसी चित्र अथवा मूर्त्ति में यदि अवयव वस्तुतः निर्बन्ध अथवा नियम हीन प्रतीत हों तो वह वस्तु 'असुन्दर' प्रतीत होगी।

'अभिरूप' नामक एक और सौन्दर्य गुण है जिसके कारण कला-वस्तु में अपने समीपस्थ वस्तुओं को प्रतिबिम्बित करने की शक्ति होती है। वस्तुतः कला-कृति का प्रभाव अपने तक ही सीमित नहीं होता; वह अपने आसन्नवर्त्ती वातावरण से एकता का सम्बन्ध रखना चाहती है। उदाहरण के लिए: एक सुन्दर विशाल भवन, जैसे ताज महल, अपने दुग्ध धवल वर्ण, सीधी गुम्बद और शिखर, सुन्दर, हरे बाग और पानी के झरने आदि से, यमुना तट के विशाल स्वच्छ नीलम जल और हरे पादपों से ढके हुए बाह्य परिमंडल से पृथक् नहीं है। इसके विपरीत, कलाकार के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हस्त कौशल की सुन्दर कृति, अर्थात् ताज महल, और प्रकृति का मनोरम परिमंडल, दोनों की सुन्दर संगति है। इसी का नाम 'अभिरूप' गुण है।

ऊपर दी गई 'सुन्दर' की परिभाषाओं में अवयव और उनका परस्पर संयोजन और सम्पूर्ण वस्तु के साथ सम्बन्ध के स्वरूप का निर्वचन किया है। परन्तु अवयवों का स्वयं स्वरूप क्या होना चाहिए, यह विषय भी विचारणीय है। यह प्रश्न 'संगति' के स्वरूप के ऊपर निर्भर है। कला में 'संगति' के दो स्वरूप है: एक तो अंगों का वह सम्मिलन जिसका सन्तोल केवल गणित के सिद्धान्तों से समझा जा सकता है। दूसरा वह जिसमें 'भावना' ही सन्तुलन का निश्चय करती है। प्रत्येक अंग का हृदय पर प्रभाव होता है, चाहे वह अंग रंग और रेखा हो, अथवा गति, शब्द, घन अथवा विशालता हो। अंगों का सम्मिलित भावनात्मक प्रभाव ही कला-कृति के सन्तुलन का निश्चायक होता है।

एक उदाहरण चाहिए: बुद्ध कालीन बुद्ध भगवान् का कोई चित्र लीजिये। इसमें आसन और शरीर का साधना मानो भोग-भावना पर आत्म-विजय की सूचना है, हस्त मुद्रा करुणा से प्लावित हृदय का द्रव स्रोत है। अर्ध निमीलित नयन मानो किसी अन्तरालोक से उद्भासित हो उठे हैं; इसी भाँति चिबुक, नासिका, अधर पुट, अर्थात् शरीर का प्रत्येक अवयव मानो मृत्यु पर अमृत की विजय का गम्भीर संगीत है। सम्पूर्ण मूर्त्ति अपने सभी अंगों, रेखाओं और घन से एक ही प्रभाव को जाग्रत और पुष्ट करती है। यह प्रभाव की एकता ही भावनात्मक संतोल है और कला-कृति के सौन्दर्य का रहस्य है।

दूसरी ओर, एक मुगल कालीन भित्ति चित्र को लीजिय। उस पर सुन्दर गोलाइयाँ, कोमल बांकी पंखुरियाँ और सरल नतोन्नत रेखायें—इनसे मिल कर बना हुआ एक डिज़ाइन। इस डिज़ाइन का चित्र में किसी केन्द्र बिन्द्र और केन्द्र रेखा से सम्बन्ध है। इस भाँति इस चित्र में एक साथ ही

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कोमलता, कलेवर का साज और गणित का निश्चय मिलेंगे। इस चित्र में सन्तोल यद्यपि अन्तिम विश्लेषण से तो भावनात्मक ही होगा, परन्तु स्पष्ट रूप से इसका आधार केन्द्र-विन्दु अथवा रेखा ही है।

कला के इन दोनों नमूनों में 'रूप' है क्योंकि इनमें अवयव और अंगी का सम्बन्ध सामञ्जस्य और संगति पूर्ण है। भेद केवल इतना है कि एक में ये अंग जीवन के अनुभवों को वहन करते हैं; उनमें मानव-हृदय की गम्भीर अभिव्यञ्जना है। दूसरे में, रेखा, गोलाई, अर्ध गोलाई, वंक, विन्दु आदि हैं जो मानो अनुशासन, नियम और निश्चय के कठोर बन्धनों की भावना उत्पन्न करते हैं। मुगल कला में, 'नियम और निश्चय के कठोर बन्धनों' के बीच में एक मार्मिक कोमलता, गणित के अविचल अनुशासन में, गोलाकार सरल मीनारों, रेखा, वंक और विन्दु के डिज़ाइनों में—अनुपम सहृदयता की गम्भीर अनुभूति है। दोनों प्रकार की कला में भेद है उनके अवयवों के भेद और उन अंगों से होने वाली अन्तिम अभिव्यक्ति के कारण। एक में जीवन की स्वच्छन्दता, विजय और उल्लास है, दूसरे में अनुशासन और निश्चय द्वारा अपरिमेय को मेय, अव्यक्त को व्यक्त बनाने का कलात्मक प्रयत्न है।

कला रूपवती होती है, उसमें सौन्दर्य है, लावण्य है, अभिरूप है। परन्तु कला के ये गुण वस्तुगत अथवा कलेवर के गुण हैं। कला हृदय की भाँति सरस है और उसमें आन्तरिक संगति भी चाहिए। अब हम कला की उन परिभाषाओं को लेंगे जो उसके अनुभव गम्य स्वरूप का विश्लेषण करती हैं।

सौन्दर्य का स्वरूप रस है, यह सर्व प्रथम 'भरत' ने समझाया। रस का मूल स्रोत हमारा हृदय है और इसकी अभिव्यक्ति कलाकार अपनी कृति के द्वारा रसिक में उत्पन्न करता है। कलाकार अपनी कृति के द्वारा कुछ अभिव्यञ्जक सामग्री एकत्रित करता है जिसे 'विभाव' 'अनुभाव'

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और 'संचारी' भाव कहा गया है। इस सामग्री के द्वारा एक विशेष 'भावना' का प्रादुर्भाव होता है जिसे 'रस' कहते हैं। इसी रस का नाम कला-सौन्दर्य है। इस सामग्री के बल से काम, क्रोध, घृणा, भय, लज्जा, करुणा आदि साधारण भावात्मक अनुभव 'रसनीय' अथवा आस्वाद योग्य हो जाती हैं। भरत का विश्लेषण रस के विषय में सीमित है। रस की परिभाषा के पश्चात् वह नृत्य, वाद्य, नाट्य, संगीत आदि में रस के परिपोष आदि प्रश्नों को सुलझाता है। भरत के परवर्ती वैज्ञानिकों ने रस की सूक्ष्म समालोचना की है जो निम्न लिखित है।

अभिनव आचार्य ने कहा है कि रस का स्वरूप 'आनन्द' है। भावनाओं के विशेष परिपोष से रस उत्पन्न होता है। साधारण जीवन में भावनायें हमारे सुख-दुःख, प्रवृत्ति-निवृत्ति आदि का कारण होती हैं। परन्तु कला में भावना का स्वरूप 'रस' होता है, और उनमें आन्तरिक संगति और संवाद होता है। 'भावना का स्वरूप' से हमारा तात्पर्य है कि एक भावना केन्द्रीय होती है, जैसे रामायण में विरह, महाभारत में करुणा, शकुन्तला में शृंगार आदि। इसी भाँति चित्र, नृत्य, संगीत अथवा वास्तु कला में भी सम्पूर्ण भावनाओं का केन्द्र-बिन्दु एक भावना होती है। अन्य भावनायें इस केन्द्रीय भावना का सब ओर से पोषण और संवर्द्धन करती हैं। इनका परस्पर सम्बन्ध सूर्य और उसके नक्षत्रों जैसा है। प्रत्येक नक्षत्र सूर्य से प्रकाश पाकर उसी के चारों ओर भ्रमण करता है। भावनाओं का सौर-मंडलाकार स्वरूप होने पर वे कलामय होती हैं। रामायण में सीता के सौन्दर्य, पिता का प्रेम, भातृ-स्नेह, राम की सहनशीलता और प्रजा–वत्सलता आदि सभी भावनाओं द्वारा केन्द्रीय भावना 'विरह' को पुष्ट किया गया है। 'मनुष्य' और 'नियति' के संघर्ष द्वारा इस भावना को और भी प्रखर बना दिया है। प्रत्येक चित्र, नृत्य आदि में 'भावना का स्वरूप' विश्लेषण द्वारा मिल सकेगा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'भावना का स्वरूप' एक और भी होता है जिसे हम 'चल-कला' जैसे नृत्य, संगीत, नाट्य आदि में पा सकते हैं। प्रारम्भ में 'प्रस्तावना' होती है जिसमें मूल-भावना को बीज रूप से प्रस्तुत किया जाता है। वह शनैः शनैः परिपुष्ट होती है; घटना और चरित्रों के अन्योन्य घात-प्रतिघात से भावना स्वयं ही अग्रसर होती प्रतीत होती है। 'संकट' उपस्थित होने पर भावना में 'तनाव' की तीक्ष्णता का अनुभव होता है और 'चरमान्त' तक पहुंचते पहुँचते उसमें विस्फोट हो उठता है। यह भावना में विकास का सर्वोच्च शिखर है। इसके उपरान्त 'निर्वाह' भाग में रसिक को उस शिखर से इस कौशल के साथ उतारता है कि उसका स्वाद मन में गम्भीर संस्कारों के रूप में चिरकाल तक बना रहे। भावना का यह आरोह-अवरोह राग की भाँति ही मनोमोहक होता है । वस्तुतः भावनाओं में कलात्मक आनन्द की उत्पत्ति इनके स्वरूप और आकार तथा अन्तः संगति से होती है।

आनन्द-वर्द्धन के अनुसार 'कला में आनन्द' का मूल कारण 'ध्वनि' है। प्रत्येक स्वर अथवा रूप, रंग, शब्द, गति आदि का प्रभाव अपने तक ही सीमित नहीं होता। इनमें से पिछले अनुभवों के कारण अथवा स्वाभाविक नियमों के अनुसार प्रत्येक का सम्बन्ध हमारे भावना-जीवन के तल में उर्मिल आशाओं, कामनाओं तथा स्मृतियों के साथ होता है, मानो कवि के एक शब्द की टंकार के साथ, नृत्य में सिर और पद की एक गति से, मूर्त्ति में भृकुटि की एक मुद्रा से, अतीत की सारी स्मृतियाँ और भविष्य की सम्पूर्ण आशायें अकस्मात् सजग हो उठती हैं। उस समय हृदय में प्रतिध्वनियों के रूप में मानो भावना के अनेक प्रवाह फूट उठते हैं। प्रत्येक स्वर, शब्द, रेखा आदि का यह व्यापी प्रभाव तभी उत्पन्न होता है जब कलाकार अपनी प्रतिभा से इनका असाधारण प्रयोग करता है। प्रत्येक स्वरादि सुनने में तो सीमित होता है, परन्तु प्रभाव में असीम और व्यापक हो सकता है। जिस भाँति घंटे की एक चोट से वह बहुत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बाद तक भी स्पन्दन करता है और ध्वनि के अतिरिक्त निह्लाद' उत्पन्न करता है, ठीक उसी प्रकार कवि द्वारा शब्द का प्रयोग होता है। एक वाक्य, शब्द, ताल, लय, मात्रा, छन्द, आरोह, अवरोह आदि के द्वारा असीम भावनात्मक प्रभाव उत्पन्न करना ही कला में सौन्दर्य का रहस्य है।

पंडित जगन्नाथ के अनुसार रस में सौन्दर्य का कारण 'चमत्कार' है। हमारे दैनिक जीवन की आवश्यकतायें हमारे वास्तविक असीम और आनन्दमय स्वरूप पर प्रतिबन्ध लगाती ह। कला के द्वारा इन प्रतिबन्धों का निराकरण होने पर भावना के प्रवाह में एक लोकोत्तर आनन्द की धारा फूट निकलती है। बन्धनों के टूटने से असाधारण सुख होता है, लोकोत्तर प्रकाश का अनुभव होता है। इसी का नाम चमत्कार है। जगन्नाथ के सौन्दर्य-विज्ञान का आधार अद्वैत वेदान्त है जिसक अनुसार हमारा परिमित व्यक्तित्व 'अहंकार' आदि के कारण लघु और क्षुद्र जीवन की चिन्ता में व्यस्त है। कला के द्वारा यह लघुता और क्षुद्रता नष्ट होने पर विशाल 'ब्रह्मत्व' का उदय होता है। यह उदय हृदय की असाधारण अवस्था तो है ही, साथ ही एक हृदय-गम्य अद्भुत अनुभव होता है जिससे सारा शरीर और मन झंकृत हो उठता है। इसी अनुभव को चमत्कार कहा है और यह कला-सुख का प्राण है।

मधुसूदन सरस्वती के अनुसार कला के द्वारा हृदय 'द्रव' अवस्था को प्राप्त होता है। जीवन में क्रोध, भय, आदि सभी भावनायें जड़ अवस्था को हटा कर हृदय को 'द्रवित' कर देती हैं। यदि हमारे इस 'द्राव' का कारण संसार की साधारण वस्तुएँ न होकर असीम, अनन्त भगवत्-तत्व हो तो हृदय में एक अविच्छिन्न आनन्द की धारा बहने लगती है। इसी का नाम भक्ति है और यही कला में सौन्दर्य का मूल है। यह सिद्धान्त सही होने पर भी अनावश्यक संकुचित है। इसके अतिरिक्त कुछ विज्ञों का कथन है कि हृदय की द्रुति अथवा द्रवावस्था तो शृंगार और करुण

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के द्वारा होती है। हास्य आदि के अवसरों पर 'विकास' और 'विस्तार' भी होता है। लय, गति, संवाद आदि के द्वारा हृदय में विशेष दीप्ति का उदय अथवा सीमाओं का अकस्मात् विच्छिन्न हो जाना ही कला-सुख का मूल माना जाता है।

कला में 'लय' का नाम भी किसी के अनुसार सौन्दर्य है। 'लय' गति से उत्पन्न होती है गति जीवन है, और जीवन एक भावना है। तब तो सौन्दर्य का 'लयात्मक' रहस्य भावना की गति में है। साधारण जीवन में भावना गतिमय होते हुए भी निर्दोष आनन्द उत्पन्न नहीं करती। इसका कारण लय का विच्छिन्न हो जाना ही है। लय का विच्छेद और गति की स्तब्धता ही सांसारिकता का मूल है और कला के निरतिशय आनन्द का विरोधी है।

गति के विच्छिन्न, स्तब्ध और लय हीन होने का क्या कारण है?

जीवन गतिमय प्रवाह है। परन्तु जीवन अपनी सत्ता के लिये परिस्थितियों के साथ सामञ्जस्य स्थापित करना चाहता है। ग्रीष्म और शीत, उच्च और नीच आदि अनेकानेक वस्तुओं पर क्रियात्मक अधिकार पाने के लिए मन का तरल प्रवाह 'जड़' बन जाता है और उसकी गति मन्द और स्तब्ध हो जाती है। उदाहरण के लिए, यदि एक प्रस्तर-खण्ड को हमें मार्ग से उठा कर फेंकना है तो 'उठाने की क्रिया' को सफल बनाने के लिए हमारे हाथ और शरीर के अन्य अवयव में भी पत्थर की जड़ता और तनाव होना चाहिए। यह तभी सम्भव है जब मन भी स्वयं पत्थर की जड़ता और तनाव को स्वीकार करे। जीवन के प्रत्येक क्रियात्मक क्षण में—या यों कहिये क्रिया सम्पादन के लिए जागृत अवस्था में—मन में भिन्न भिन्न वस्तुओं के सम्पर्क के कारण भिन्न रूपता और जड़ता का निरन्तर समावेश होता रहता है। मन एक वस्तु से दूसरी वस्तु पर जाता है और उसकी स्वाभाविक गति मानो खण्डित हो जाती है। गति

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्तब्ध और विच्छिन्न होते हुए भी गतिमान् रहती है, अर्थात् उसमें निरन्तर परिवर्तन और नवीनता का समावेश होता रहता है। यदि कोई मनुष्य प्रमादी अथवा विक्षिप्त है तो प्रयोजन के अभाव से जीवन दिशा-हीन होगा। क्षणिक प्रयोजन के वश से जीवन में 'गति' होगी, परन्तु अनिर्दिष्ट होने के कारण 'प्रगति' न होगी। साधारण जीवन में भी जहाँ उद्देश्य स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूप में विद्यमान है गति होती है, परन्तु प्रगति बहुत कम। अधिकतर व्यक्ति बालकपन से वृद्धावस्था तक एक ही भावनात्मक स्तर पर रहते हैं और भावना की निर्बलता के कारण मानो विकास पाते ही नहीं। भावना जीवन में निरन्तर विकासशील प्रगति के अभाव से लय हीन, नीरस अवस्था का अनुभव होता है।

साधारण जीवन में भी तनाव, जड़ता और विच्छिन्नता प्रत्येक क्षण नहीं रह सकतीं, कारण कि ऐसा होने पर मन का वास्तविक गतिमय स्वरूप बिल्कुल नष्ट हो जायगा। मृत्यु की दशा शरीर और मन की निरन्तर कठिन तनाव की अवस्था है। विक्षिप्त अवस्था में या तो तनाव की अधिकता या इसका बिल्कुल अभाव रहता है। परन्तु दोनों ही क्रिया सम्पादन के लिए हानिकर हैं; इसीलिए पागल कार्य करने में असमर्थ होता है। साधारण स्वस्थ अवस्था में तनाव और गति (Tension and Relaxation) का क्रम से आना जाना होता है। तनाव की अवस्था में क्रिया-सम्पादन और गति की अवस्था में प्रवाह की तरलता और जीवन की स्फूर्ति होती है। इसी से हमारा व्यवहार सम्पन्न होता है। तनाव की अवस्था में स्तब्धता और श्रम उत्पन्न होता है; गति की अवस्था में विश्राम, प्रगति, तरलता और आनन्द का अनुभव होता है। हमारा प्रकोप, भय, कामोद्वेग, कलह, द्रोह आदि भावना के बवंडर की भाँति हैं जो जीवन में तनाव और जड़ता की वृद्धि करते हैं, इसीलिए

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दुःखद हैं। अतः प्रश्न है कि भावना की वह कौन सी अवस्था है जिसमें दुःखद तनाव के स्थान पर सुख की प्रतीति हो सके।

यहाँ हमें 'लय' के स्वरूप का ज्ञान होता है। लय गति है, हमारे जीवन में अथवा भावना में। परन्तु लय की गति प्रगतिशील है। इसका अर्थ है कि जीवन की लय अवस्था में आवेग, प्रयोजन अथवा व्यवहार-सम्पादन के लिए जड़ता आदि का अभाव उत्पन्न होना आवश्यक है। लय की अवस्था में प्रगतिशील गति के कारण भावना-जीवन में नवीन स्तरों का उदय, नवीन प्रकाश की झलक और नूतन आनन्द स्रोतों के प्रवाह होने चाहियें। इस प्रवाह में हमारे सीमामय जड़ व्यक्तित्व का 'लय' असीम चेतना के सिन्धु में हो जाता है। इसी अवस्था का नाम 'आनन्द' है; इसको 'सुन्दर' भी कहा जाता है।

कलाकार वस्तु के सौन्दर्य से, वस्तुगत गुणों के प्रभाव से 'लय' अवस्था का संचार करता है। चमत्कार और आनन्द का अनुभव इस 'लय' का नाम है। संगीत अथवा चित्रकला में सौन्दर्य का रहस्य यही 'लय' अनुभव है। जिस वस्तु के कारण यह अनुभव उत्पन्न होता है, उसको भी 'सुन्दर' कहते हैं। लय में आनन्द का अनुभव करने के लिए रसिक का हृदय भी भावनामय होना चाहिए। इसीलिए सुन्दर का अनुभव प्रत्येक व्यक्ति विशेष अवस्था में ही करता है। अतएव 'सौन्दर्य' मनचाहा अनुभव नहीं है। इस अनुभव की स्वयं सत्ता और स्वरूप है। यह भी हम कह चुके हैं कि यह अनुभव आवेग आदि से भिन्न है। एक में जड़ता बन्धन, श्रम और खिन्नता है, दूसरे में जागरूकता, स्वच्छन्द गति, विश्राम (विराम बिना भी विश्राम—यही कला अनुभव की विशेषता है) और आनन्द है। साधारण जीवन में 'तनाव' के अनन्तर बार बार होने वाली लय अवस्था के कारण ही उसमें शक्ति और आनन्द का आभास रहता है; नहीं तो नष्ट हो जाय। 'तनाव' से क्रिया और 'लय' से आनन्द की अनुभूति

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होती है। दोनों प्रवृत्तियाँ स्वाभाविक और परस्पर आश्रित हैं। अतएव कला-अनुभूति द्वारा आनन्दातिरेक के कारण क्रिया करने के लिए शक्ति उत्पन्न होती है। अतएव इस मनोवैज्ञानिक तथ्य के अनुसार कला आलस्य और प्रमाद की जनक नहीं, किन्तु विकास, प्रगतियुक्त गति, और शक्ति का परम स्रोत है। लय की इस साधारण प्रवृत्ति का नाम ही अन्तर्भावना है।

इस लेख की समाप्ति के पूर्व दो परिभाषायें और विचारणीय हैं। पहली है 'शोभा'। रूप गोस्वामी के अनुसार शोभा सौन्दर्य की पूर्व अभिव्यक्ति है। शोभा में 'रूप' है और 'भोग' भी। 'रूप' का अर्थ जैसा पहले किया जा चुका है: यह कला वस्तु का वह वस्तु-गत सौन्दर्य है जिसमें प्रत्येक अवयव अपने अंगी के साथ एक सामञ्जस्य पूर्ण सम प्रभाव उत्पन्न करता है। 'भोग' से तात्पर्य है आनन्द। शोभा में आनन्द अथवा लय अवस्था का अनुभव जो मनोगत गुण और वस्तु-गत गुण 'रूप' दोनों का समावेश है। यह परिभाषा पूर्ण, पुष्ट और परिमार्जित है।

अन्तिम परिभाषा रवीन्द्र ठाकुर की हैं। इनके अनुसार 'प्रेम' ही सौन्दर्य का आदर्श रूप है। द्रोह असुन्दर है। इस परिभाषा के अनुसार वस्तुगत गुण 'रूप' का निर्वचन बहुत उचित हो जाता है। अवयवों का वह सम्बन्ध और सम्मिलन जिसमें "ताहार कौन एकहि अंश अपर एकहि अंशेर सहित विवाद करे ना, जेद करिया अन्य सकल के छाड़ाइया उठे ना; ईर्ष्या वशतः स्वतंत्र हइया मुख बांकाइया थाके ना। ताहार प्रत्येक अंश समग्रेर सुखे सुखी" होता है वहीं सौन्दर्य का उदय होता है। प्रेम के नियम में बन्ध कर ही वस्तु सुन्दर होती है। साथ ही प्रेम में लय भी है गाम्भीर्य है, गति और विश्रान्ति है। अतएव ठाकुर के अनुसार—"यथार्थ ये सुन्दर, से, प्रेमेर आदर्श। से प्रेमेर प्रभावेई सुन्दर हुइयाछि, ताहार आद्यन्त मध्य प्रेमेर सूत्रे गाँथा"।

यह परिभाषा भी सम्पूर्ण और 'सुन्दर' की सुन्दर परिभाषा है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

: ६ :

कला और कल्पना

कला को कल्पना की पंखे चाहिये।

कला प्रकृति का अनुकरण नहीं, सृजन है; उसकी छाया का चित्रण नहीं, प्रकृति की आध्यात्मिक अभिव्यञ्जना है । चित्रकार अथवा शिल्पकार का पुष्प वास्तविक पुष्प नहीं हो सकता। यदि वह वास्तविकता का भ्रम उत्पन्न भी कर सका, तो यह 'भ्रम' कलानुभूति नहीं कहलाया जा सकता। किसी दृष्टि से यह कला-पुष्प वास्तविक न होकर भी—अथवा यों कहिये, वास्तविक न होकर ही—कलात्मक कहा जा सकता है। यहाँ कला-विज्ञान के कई प्रश्न उपस्थित होते हैं: 'कलात्मक' क्या वस्तु है? कला का 'वास्तविक' से क्या सम्बन्ध है? क्या कला वास्तविकता से भी ऊपर किसी उदात्त सत्य का प्रत्यक्ष करा सकती है? कला के द्वारा 'वास्तविक' की सीमा का उल्लंघन—क्या यही कला-सृजन और आस्वादन का चरम उद्देश्य नहीं है? यदि है तो इसके पीछे कौन सी प्रवृत्ति प्रेरणा के लिए विद्यमान है? इत्यादि। इन प्रश्नों का उत्तर कला विज्ञान के लिए आवश्यक है। हम अन्तिम प्रश्न को लेकर प्रारंभ करेंगे।

कला के द्वारा वास्तविक की सीमा के उल्लंघन के पीछे कौन सी सृजनात्मक प्रवृत्ति है? एक दार्शनिक के अनुसार, मानव-हृदय परिचित प्रत्यक्ष से सन्तुष्ट नहीं । बौद्ध-विकास के कारण हम अप्रत्यक्ष, सुदूरवर्त्ती कल्पना-चित्रों से महान् आनन्द प्राप्त करते हैं। असंतोष से प्रेरित होकर, कल्पना के द्वारा, मानव हृदय कलामय विश्व की काल्पनिक सृष्टि कर वह सुख लाभ करता है जिसके लिए साधारण जीवधारी असमर्थ है। साथ ही,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रकृति अथवा प्रत्यक्ष अनुभव में हम जो न्यूनता पाते हैं, वह कल्पना द्वारा पूरी कर लेते हैं। इस दर्शन के अनुसार कला में कल्पना के लिए प्रेरणा मिलती है मनुष्य के असंतोष से प्रत्यक्ष की हीनताओं की पूर्त्ति के लिए।

यह उत्तर दोषग्रस्त है। पहले तो प्रकृति हीन नहीं, वह सौन्दर्य-अनुभूति की जननी है। दूसरे, कला का काल्पनिक सुख और दिवा-स्वप्न के सुख में क्या अन्तर है, कहना कठिन होगा। ऐसे सुख से पलायन-प्रवृत्ति और भी प्रबल होगी। वास्तविकता का सामना करने के लिए हमारे संकल्पों की दृढ़ता चाहिए। कला के काल्पनिक आस्वादन से यह संकल्प दुर्बल होकर मानसिक हीनता उत्पन्न करेगा। युग की विषम परिस्थितियों का सामना न कर सकने के कारण सुख-लिप्सु युवकों की सान्त्वना के लिए ऐसे साहित्य और कला का निर्माण इस समय हो रहा है, परन्तु यह तो वासना, दुर्बलता और पलायन-प्रवृत्ति की दुर्गन्ध से दूषित कला है। कला का सच्चा अनुभव देने के लिए यह असमर्थ है।

दूसरा उत्तर है : प्रकृति सुन्दर हैं अवश्य, परन्तु सभी उसके सौन्दर्य का प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। व्यवहारिक जीवन की आवश्यकताओं और प्रकृति के रहस्यमयी होने के कारण, उसका रसमय स्वरूप कुछ आवृत सा रहता है। कलाकार अपने भावना-जीवन के विकास के द्वारा न केवल प्रकृति के सौन्दर्य का प्रत्यक्ष करता है, परन्तु अपनी तूलिका से उस सौन्दर्य का रसमय उद्घाटन भी करता है। इसलिए, यद्यपि प्रत्यक्ष-पुष्प सुन्दर है, परन्तु चित्रकार का पुष्प सौन्दर्य का कलामय प्रतीक है। इस सौन्दर्य का दर्शन और सृजन कलाकार के द्वारा, अथवा आस्वादन रसिक के द्वारा, प्रत्यक्ष से ऊँचे उठकर केवल कल्पना के सहारे ही सम्भव है। इटली देश का एक आधुनिक कला-पंडित तो यह भी कहता है कि हमारे प्रथम क्षण का निर्विकल्प प्रत्यक्ष—शिशु की आँखों से देखा गया रसमय जगत्—ही सौन्दर्य का अनुभव है। इस प्रथम क्षण के शुद्ध प्रत्यक्ष के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अनन्तर ही तो जगत् का व्यावहारिक स्वरूप—रसहीन, रंजनाहीन—उस सौन्दर्य पर पर्दा डाल देता है। कलाकार अपने शिशु-स्वभाव के कारण उस अनुभव में देर तक ठहर सकता है और कल्पना के द्वारा मानो मानस में भर कर इसे कला के रूप में ढाल देता है।

यह उत्तर अधिकांश में ठीक है। कला में छाया चित्रण नहीं होता परन्तु कला-सृजन का आधार अवश्य ही प्रत्यक्ष है। सृजन का मुख्य साधन है 'चयन'। इसके द्वारा आवश्यक, सुन्दर अंगों का 'ग्रहण' और असुन्दर का 'त्याग' किया जाता है। परन्तु ग्रहण और त्याग स्वरूप चयन में कल्पना ही आधार है। कल्पना-शून्य कलाकार की कृति में चयन के अकौशल के कारण व्यञ्जना नहीं होगी। इसमें तूलिका और रंगों का इतना प्रयोग होगा कि चित्र का वास्तविक सौन्दर्य ओझल हो जायगा। परन्तु इस मत में दोष है तो यह कि कला में आन्तरिक अभिव्यक्ति को स्थान नहीं। कला प्रत्यक्ष का ही—चयन द्वारा ही सही—चित्रण करती है; परन्तु अध्यात्म जगत् की घटनायें जो प्रत्यक्ष द्वारा व्यञ्जना की खोज करती हैं, इस मत के द्वारा कला में सम्भव नहीं।

एक और मत है जिसके अनुसार कला-सृजन 'आन्तरिक' को 'बाह्य' के स्वरूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न है। परन्तु 'आन्तरिक' और 'बाह्य' में स्वरूप की कोई वास्तविक संगति संभव नहीं। हृदय के गम्भीर अनुभवों को—दया, प्रेम, विरह, विकलता, संघर्ष आदि को—संगमर्मर की मूर्ति में, रंगों में अथवा कवि के शब्दों में किस प्रकार चित्रित किया जाये? रंग और रेखा द्वारा आध्यात्मिक अनुभवों की अभिव्यञ्जना केवल कल्पना के सहारे सृजन और हृदयंगम की जा सकती है। केवल प्रत्यक्ष द्वारा नहीं। चित्रकार किसी 'भाव' का स्पष्ट अनुभव कर उसी को अपने विशेष दृष्टिकोण से चित्रित करता है, तभी उसका चित्र 'वास्तविक' न होते हुए भी कला की सुन्दर काल्पनिक कृति होता है। एक साधारण

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फोटोग्राफर भी किसी विशेष भाव को स्पष्ट करने के लिए कल्पना के सहारे वास्तविक को आंशिक रूप से छोड़ देता है। इससे भी अधिक, कलाकार कल्पना के द्वारा वस्तु सत्ता को परिवर्तित कर देता है।

मनोविज्ञान के आधुनिक पंडित मानते हैं कि कला के द्वारा अननुभूत भविष्य का चित्रण नहीं, किन्तु चिर अतीत--सृष्टि के आदि कालीन --अनुभवों का स्मरण होता है। सृष्टि के झुटपुटे नक्षत्रों के प्रकाश में--विश्व की आदिम अवस्था में--जीव को अविस्मरणीय कुछ गम्भीर अनुभव हुए थे। पृथ्वी अधिकांश जलमय थी, वायु का प्रकम्पन था, स्थान स्थान पर भयंकर स्फोट, विद्युत् का जाज्वल्यमान प्रकाश, घनाघन का घर्घर घोष, ऊर्मिमाला का तरल उत्थान और पतन, पर्वतों का घात प्रतिघात, वनों में अग्नि दाह आदि अनुभव थे जो उस समय--हृदय की कोमल और निर्मल अवस्था में--प्राणी ने किये। इस समय तो हमने भय को शालीनता से, विस्मय को धैर्य आदि के आडम्बर से आच्छन्न कर अपनी प्राकृत प्रवृत्तियों को 'सभ्य' और संस्कृत बना लिया है। परन्तु 'दमन' और 'आवरण' के आधिक्य से जीवन के रसमय भावना-स्रोत तिरोहित हो गए हैं और हमारे लिए सुख-दुःख, आश्चर्य, क्रोध, भय, आदि के लिए वह पूर्व सा अवकाश नहीं रहा है। किन्तु समय समय पर हमारा मन अब भी वर्तमान समाज की कृत्रिम सभ्यता से मानो ऊब कर उन प्राकृत प्रवृत्तियों को पुनः जागृत करना चाहता है। परन्तु इसके लिए उचित देश-काल कहाँ? इसलिए कलाकार कला-सृजन द्वारा हमारे उन मौलिक अनुभवों को जगाता है जो हमारे हृदय में स्मृतियों के रूप में संचित हैं। इसलिए सफल कला वही है जो उन ध्वनि, स्फोट, ज्योति, गन्ध, तरलता आदि के मौलिक अनुभवों से हमारे हृदय को प्रतिध्वनित कर सके। ऐसा करने के लिए कलाकार 'वास्तविक' को जानबूझ कर छोड़ता है और उन आदिम चित्रों (Primordial Images) की

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

खोज में कल्पना के द्वारा अपने ही अन्तर में अचेतन स्मृतियों के रूप में संचित कोश का अवगाहन करता है। आधुनिक मनोविज्ञान के इस दर्शन के अनुसार, कल्पना के द्वारा अतीत का पुन-निर्माण, उन काल्पनिक किन्तु मौलिक चित्रों का उद्घाटन, यही कला का उद्देश्य है।

कला के किसी भी मत के अनुसार यह मानना होगा कि कला-सृजन में वास्तविक प्रत्यक्ष को कहीं न कहीं अवश्य ही अतिक्रमण करना होगा। वास्तविक का अतिक्रमण करने के लिए कल्पना आवश्यकीय है।

कल्पना का स्वरूप क्या ह ?

यहाँ आधुनिक मनोविज्ञान के कुछ निष्कर्षों की जाँच आवश्यक है। इसके अनुसार ज्ञान का मूल स्रोत प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष से दो प्रवृत्तियों का विकास होता है, एक अतीत की ओर चलने वाली स्मृति और दूसरी अनागत को अवगम करने वाली कल्पना। कल्पना का आश्रय स्मृति है। स्मृति के संचित अनुभवों में परिवर्तन के द्वारा एक 'नवीनता' का उदय होता है, इसी का नाम कल्पना है। यह परिवर्तन चार रूप ग्रहण कर सकता है, वृद्धि, हीनता, संयोग और पृथक्करण। कल्पना के द्वारा अनुभूत किए पदार्थों के मानसिक चित्रों को बढ़ाना, जैसे टीले को पर्वत के रूप में, घटाना मनुष्य को लिलिपुटियन के रूप में, दो विभिन्न अनुभवों को मिलाना जैसे क्षीर-सागर अथवा सुमेरु के सुवर्ण-शृंग की कल्पना, अथवा पृथक् करना जैसे कबन्ध का अनुभव आदि। मनो-विज्ञान का निश्चय है कि कल्पना-चित्रों में स्मृति के अवशेष और इन चार क्रियाओं का सम्मिश्रण अवश्य मिलेगा। कल्पना किसी प्रकार भी स्मृति का अतिक्रमण करने में असमर्थ है।

उक्त सिद्धान्त बच्चों को समझाने के लिए उपयुक्त हो सकता है, क्योंकि सरल है, परन्तु मनोविज्ञान के लिए यह विगत रूढ़ियों का उच्छिष्ट मात्र है। पहले तो स्मृति का प्रत्यक्ष से उपर्युक्त के अनुसार सम्बन्ध नहीं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है। वस्तुतः सृजनात्मक कल्पना के रहस्य को समझने के लिए हमें मानव व्यक्तित्व की गहराइयों तक जाना पड़ेगा। मनुष्य के परिमित व्यक्तित्व का आधार अपरिमित अचेतन तत्व है जहाँ--केवल जहाँ--चिर अतीत की स्मृतियाँ, अभिलाषायें और मनोवेग, चेतन की अपेक्षा प्रखरतर रूप में सतत जागरूक रहती हैं। हमारा प्रत्यक्ष भी उन्हीं मनोवेगों के नियंत्रण में रहता है। इसके अतिरिक्त एक अर्ध-चेतन मानसिक स्तर भी है जहाँ हमारी साधारण व्यवहारिक स्मृतियाँ और कल्पना चित्र रहते हैं। परन्तु हमारी गम्भीर अनुभूतियों का आधार और उद्गम असीम अचेतन है। और भी, यदि ऊपर बताई गई इन्हीं चार क्रियाओं को कल्पना का आधार मानें तो इनके सहारे केवल पूर्व अनुभूत चित्रों का चयन और संकलन मात्र होगा। इस संकलनात्मक चयन को सुन्दर बनाने के लिए इससे पूर्व सौन्दर्य का अनुभव होना चाहिए। जिस कल्पना द्वारा 'सौन्दर्य' का अनुभव किया जाता है उसी को सृजनात्मक कल्पना मानना चाहिए।

पूर्व अनुभूत चित्रों का घटा बढ़ा कर केवल संकलन और नवीन चित्रों द्वारा सौन्दर्य का सृजन, दोनों भिन्न क्रियायें हैं। एक में चयन प्रधान है, दूसरी मौलिक क्रिया है। संकलित चित्र और कलात्मक कल्पना चित्र भी भिन्न हैं। कला-चित्रों में दो गुण आवश्यकीय हैं। वे हैं गति और संगति। गति से हमारा तात्पर्य है कला-चित्र में कलाकार और प्रेक्षक के मन में 'लय' प्रवृत्ति को जागृत करने की सामर्थ्य। साधारण अवस्था में व्यवहार की आवश्यकता के लिए भावना-जीवन संकुचित और कुछ 'जड़' सा रहता है इसलिए गति हीनता और भावना की मन्दता उत्पन्न होती है। जब कभी भावना का उदय होता भी है, सुख-दुःख की अनुभूति के साथ, तो वह इतना अनियत और तीव्र आवेगों के रूप में होता है कि चित्त की 'लय' गति स्थिर नहीं रह पाती। कला लय का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उत्थान और पोषण करती है, आवेग और आन्दोलन का नहीं। इसीलिए रोमाञ्चकारी सस्ता साहित्य और मनो-वेगों को उद्दीप्त करने वाले चित्र आदि कला के आदर्श से इतने नीचे रह जाते हैं। कला-चित्रों का मुख्य उद्देश्य जीवन के प्रवाह को लय रूप गति देना है जो केवल संकलित चित्रों द्वारा सम्भव नहीं। संकलित चित्र फोटोग्राफर द्वारा सम्पादित सामग्रियों का स्थिर, निर्जीव फोटोग्राफ मात्र है।

संकलित चित्रों में सेनिमा के चल चित्रों की गति सम्भव है, परन्तु यह गति कलात्मक नहीं, कृत्रिम है। इनमें संगति भी सम्भव है, तीव्र गति से निरन्तर रील को घुमाने के कारण। परन्तु यह संगति कलात्मक नहीं। कला-चित्र मानों किसी सौन्दर्य-भावना के अनुशासन से एक आन्तरिक सूत्र में बन्धकर अनुभूति की एकता उत्पन्न करते हैं; प्रभाव के सामंजस्य के लिए ये चित्र पृथक् होते हुए भी एक ही आत्मा के अनुभव से प्रतीत होते हैं। कला-सृजन का प्रयास करने वाले नौसिखों के काव्य आदि में कल्पना चित्र होते हैं। परन्तु वे एक ही फूल की भिन्न पंखड़ियों की भाँति एक नहीं, किसी प्रदर्शिनी में लटके हुए भिन्न कलाकारों के चित्रों की भाँति प्रथक् होते हैं। कला-चित्रों में सम्मिलन और सन्तुलन के द्वारा जो प्रभाव की एकता उत्पन्न होती है वह संगति है जो संकलित चित्रों में नहीं होती।

कला में कल्पना का रूप सृजनात्मक होता है। मानना होगा कि यह कल्पना प्रत्यक्ष अनुभव का फल नहीं। कला-भावना ही सृजनात्मक कल्पना की जननी है। यह भावना ही कल्पना को अपनी गति, लय, संगति और सन्तुलन प्रदान करती है। और कल्पना इससे अनुप्राणित होकर अनुभव और वस्तुओं के द्वारा उस भावना की कलात्मक सृष्टि करती है। कथानक, कथा-पात्र, परिस्थिति, घटना, कला का आकार-प्रकार—यह सब कल्पना की उपज हैं। सारे अलंकार, चित्रों में रेखा, रंगों की गति इत्यादि कला के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सम्पूर्ण अंग प्रत्यंग कल्पना से उत्पन्न और पुष्ट होते हैं। कल्पना भावना द्वारा, और भावना सौन्दर्य की चिर आराधना से विकास पाते हैं।

भावना—आवेग नहीं—जब सृजन के लिए प्रस्तुत होती है तो एक आन्तरिक प्रसाद—प्रमाद नहीं—से मानस के दिगन्तराल विस्फारित हो जाते हैं, सीमायें क्षितिज हीन हो उठती हैं। मानस के उस छोर हीन नभो-मंडल में कल्पना अपने पंख फैला कर उड़ती है और रसमय जगत् का आह्वान करती है। उस समय, कल्पना के पीछे, विराट विश्व के ओर छोर से अनन्त चित्र, अनन्त राग, असंख्य रस, अनेकों गन्ध और स्पर्श उमड़ते आते हैं। कल्पना उनको स्थान और स्वरूप देती है और उनकी अन्तरात्मा को आह्लाद और प्रकाश से भर देती है। यही तो कल्पना का कलात्मक सृजन है।

कलाकार के इस सृजन-सुख को कौन जानता है?

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

: ७ :

कला में मौलिकता

कला में मौलिकता का प्रश्न कला-स्रोत के उद्गम-स्थान का प्रश्न है। कला-विज्ञान भी इस चरम प्रश्न का उत्तर पाने के लिए चरम मनोविज्ञान, विशेष अध्यात्म-शास्त्र और सौन्दर्य-मनो-विज्ञान से सहायता लेता है। यही कारण है कि मौलिकता केवल नवीनता का दूसरा नाम नहीं है। कला का सार चमत्कार (रसे सार श्चमत्कारः) अवश्य है; किन्तु कला-विज्ञान की दृष्टि से चमत्कार और आश्चर्य में गहरा अन्तर है। कला के मूल्यांकन में जब तक इस अन्तर पर दृष्टि न रखी जाय, तब तक हिन्दी के कलाकारों में मौलिक बनने की चाह से केवल आश्चर्यान्वित करने के लिए नवीन बनने की चेष्टा चलती रहेगी।

कला में नूतन का स्थान अवश्य है। रमणीयता कहते ही उसको हैं, जिससे क्षण-क्षण नूतनता का कलकल-छलछल आनन्दमय प्रवाह छूटता रहे। मनोविज्ञान का साधारण सिद्धान्त है कि अनवरत बहती हुई आलय-विज्ञान-धारा पुरातन पर ठहर ही नहीं सकती; प्रतिक्षण नूतन की ओर अग्रसर होती है। सौन्दर्य-आस्वादन में अवधान द्रुत-गति से आनन्द की अनेक विध तरल तरंगों में उतराता है; परन्तु अवधान के इस पुनः-पुनः होने वाले वाह्य प्रवाह के साथ ही सौन्दर्य का आकर्षण अन्तर्मुखी बनता रहता है। उदाहरणार्थ, कलाकार की दृष्टि एक सुन्दर युवती पर जाते ही उसके तारुण्य के तरल प्रवाह में बहने लगती है। उसके उदीयमान नवयौवन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के चिन्ह कलाकार को लावण्य-धारा में उछलती हुई कल्लोल जान पड़ते हैं। कभी उसके मुख-माधुर्य को निहार कर उसे अनाघ्रात पुष्प का आभास होता है, तो कभी उसके चंचल अंचल से पवन की अभिलाषा प्रतीत होती है। कभी पश्चात्ताप होता है, तो कभी आनन्द; कभी जलन, तो कभी उत्पीड़न। माधुर्य की इस गूढ़ अनुभूति में वह नित्य चमत्कार, रसोद्रेक तथा नवीन बनी रहती है। सौन्दर्य-आस्वादन में चित्त की यह निरन्तर होने वाली बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी आनन्दमयी क्रिया उसका सार है। वुण्ट नामक एक जर्मन मनोवैज्ञानिक ने इस विशेष चित्तक्रिया का नाम अन्तर्भावना रखा है।

कला-कृति की सफलता इस अन्तर्भावनात्मक क्रिया को जगाने और तीव्र बनाने में है। मनोजीव-विज्ञान का यह सिद्धान्त है कि स्नायुओं में नवीन और जटिल क्रिया की उद्भावना सर्वदा आनन्दमय होती है। कलाकार अपनी कृति द्वारा नवीन और जटिल स्नायु-क्रिया का प्रचलन करता है। तार के परिस्पन्द की भाँति यह क्रिया शरीर में कुछ देर प्रचलित होकर व्याप्त हो जाती है और उसे रस-प्रवाह से पूरित कर देती है। चित्त में अन्तर्भावनात्मक क्रिया द्वारा तथा शरीर में इस स्नायु-संचलन द्वारा जो व्यापक और गम्भीर अनुभूति का उदय होता है, उसे भारतीय कलावैज्ञानिकों ने आह्लाद, चमत्कार, प्रीति, रस आनन्द आदि नामों से पुकारा है। यह चमत्कार नवीनता की अक्षय और अखिल निधि होती है। कला की मौलिकता इस चमत्कारात्मक अनुभूति को जाग्रत और सफल बनाने में है, जो केवल नवीन ही नहीं, बल्कि नित्य नवीनता का उद्गम स्थान है।

कवि जिस प्रक्रिया द्वारा सहृदय रसिक को रसानुभूति कराने में सफल होता है, उसे ध्वनि कहा गया है। कलाकार की ध्वन्यात्मक कृति में जिस वस्तु, रस, अलंकार, इतिवृत्त, छन्द आदि का प्रयोग किया जाता है, उन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सबका प्रयोजन शारीरिक और चैत्तिक चमत्कार-क्रिया को जाग्रत करना होता है। प्रश्न यह है कि क्या मौलिक कलाकार अपनी कृति में वस्तु, रस आदि चमत्कार-सामग्री पर अपनी निष्ठा रखता है अथवा सौन्दर्यानुभूति में, जिससे इस सामग्री का जन्म हुआ है। सौन्दर्य की अनुभूति कलाकार की सहज शक्ति पर निर्भर है। यह उसकी चिर-उपासना और सौन्दर्य-आराधना का फल है। क्या सौन्दर्य का उपासक कृति में सफल हो सकता है? क्या हम यह मान सकते हैं कि सौन्दर्य-भावना का उद्‌गार स्वयं ही कला-प्रवाह में फूट निकलता है? 'क्रौंच दुःख वियोगोत्थः शोकः श्लोकत्व मागतः'—क्या यह सम्भव है और क्या इतना केवल मौलिक कृति के लिए पर्याप्त है? आदि-कवि को करुणा की गूढ़ानुभूति के अनन्तर जो परेशानी हुई, उससे सिद्ध है कि रस-प्रवाह अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए वस्तु, इतिवृत्त, अलंकार आदि चमत्कार-सामग्री के लिए छटपटाता है। परमेष्ठी पितामह ने आदि कवि को राम-कथा का रहस्य दिखा कर उनकी गहरी सौन्दर्यानुभूति के लिए कलामय प्रवाह खोल दिया।

कला में अनुभूति मौलिक नहीं होती और न हो ही सकती है। अनुभूति केवल वास्तविक हो सकती है। साधारण आदमी की मनोवृत्तियाँ बहिर्मुखी होती हैं, इसलिए वह अपनी वास्तविक अनुभूतियों को, अपने जीवन के गूढ़तम स्तरों में मचनेवाली मानसिक क्रीड़ाओं और अन्तरात्मा में बहने वाले प्रवाहों, प्रपातों और प्रतिप्रवाहों को नहीं समझ पाता। कवि के गान में, गायक की तान में, चित्रकार के कलापूर्ण चित्र में रसिक अपने ही सत्यतम गूढ़तम अनुभवों की झंकार सुन कर चकित, चमत्कृत और आनन्द-विभोर हो उठता है। जहाँ पर अनुभूति की सच्ची वास्तविकता नहीं, वहाँ कला में गुंजन नहीं मिलता, इससे आकर्षण भी नहीं रहता। अनुभूति की मौलिकता का नमूना हिन्दी-कवियों की सैकड़ों की संख्या में लिखी जाने वाली कविताओं में देखिये! वास्तविक अनुभूति एक होती है, सहज होती है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शुक्ल जी के शब्दों में उसका 'समन्वित प्रभाव' होता है। देश, और समाज, राजनीतिक, आर्थिक और नैतिक वातावरण के साथ उसका सामंजस्य रहता है। हमारी आशा और निराशा, हमारे क्रन्दन और गान, हमारी उत्कण्ठा और अभिलाषा उस अनुभूति में ओतप्रोत रहते हैं। इस अनुभूति के लिए, जिसमें कला का जन्म होता है, कलाकार को सच्ची सहानुभूति, ओजपूर्ण प्रतिभा तथा अथक आराधना की आवश्यकता होती है।

तब कला में मौलिकता का अर्थ क्या है ? कला-कृति में केवल अनुभूति की वास्तविकता तथा उसके प्राबल्य से काम नहीं चलता। अनुभूति की व्यंजना के लिए अभिव्यंजक सामग्री चाहिए। कलाकार अपनी मौलिक और नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से नवीन अभिव्यंजक सामग्री, वस्तु, अलंकार, इतिवृत्त, छन्द आदि की सृष्टि करता है। कलाकार की मूक अनुभूतियाँ वाणी की खोज में हृदय में हिल्लोर भरती रहती हैं और उचित आकार-प्रकार पाकर झंकृत हो उठती हैं। मिल्टन को ६५ साल के जीवन में उनकी गूढ़ अनुभूतियों के लिए आदम-हौवा की घटना में उचित आकार-प्रकार मिला। तुलसी को अपनी काव्य-कला के लिए मार्ग मिला राम-कथा में और सूर को ब्रजांगनाओं की विरह-व्यथा में। कलाकार की सम्पूर्ण साधना अपनी अनुभूतियों के परिपाक के अनन्तर उचित आकार-प्रकार खोजने में लग जाती है। न मिलने पर 'अनुभूतियों के भार' से वह छटपटाता है; आन्तरिक उथल-पुथल और आन्दोलन से विकल होता है। रस से परिपक्व कलाकार की आन्दोलित अन्तरात्मा भूगर्भ से उमड़ते हुए स्रोत की नाईं वाणी का द्वार न पाकर कितनी व्याकुल होती होगी !

कलाकार की मौलिकता की यही परख है। इसी में उसका भाग्य भी है; क्योंकि नए आकार-प्रकार का आविष्कार अन्य परिस्थितियों पर भी निर्भर है। भाषा की प्रांजलता, संगीत का विकास, समाज की नैतिक, धार्मिक और भावात्मक रुचियाँ तथा अन्य सामाजिक समस्याएँ—ये सभी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कलाकार को आकार-प्रकार स्थिर करनेमें साधक या बाधक हुआ करती हैं। कला हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व को प्रभावित करती है; क्योंकि कला में समष्टि-व्यक्तित्व की अभिव्यंजना होती है, इसलिए कलाकार अपने व्यष्टि-व्यक्तित्व में समष्टि का सामंजस्य उत्पन्न करता है। ऐसा करने में वह जितना सफल होता है, उतना ही अपनी कृति के आकार-प्रकार में वह आनुकूल्य प्राप्त करता है और लोगों का स्नेह-भाजन बनता है।

उदाहरण के लिए, काव्य में अलंकार को लीजिये। सम्पूर्ण अलंकारों के जनक उपमा और रूपक हैं। कलाकार अपनी गूढ़तम अनुभूतियों को विविध रंगों, ध्वनियों या शब्दों में झंकृत करने के लिए उत्तम साधर्म्य की खोज करता है। अपनी प्रतिभा की सम्पूर्ण शक्ति के साथ उसमें निहित सादृश्य का चमत्कारी उद्घाटन कर डालता है। जो बात अब तक छिपी थी, वह अब हजारगुनी प्रभा से हमारी आँखों के सामने झलमला उठी; जो सुनी न थी, पर जिसको सुनने के लिए मूक श्रोत्र लालायित थे, वही आज एक रूपक द्वारा कानों में मांसल मृदंग-ध्वनि-सी बज उठी! कलाकार की मौलिकता की परख उसके अलंकारों के इस प्रबल प्रयोग से होती है। बहुधा कवियों ने उच्छिष्ट अलंकारों का प्रयोग किया है। हमार हिन्दी-कवियों को जानना चाहिए कि, 'उपमा कालिदासस्य' से सिद्ध है कि, उपमा का प्रयोग कलाकार की मौलिक प्रतिभा का द्योतक है।

यही बात छन्द और वस्तु आदि के चयन के विषय में है। छन्द संगीत का प्राण है और संगीत, उसकी सौन्दर्य-लहरी और स्वर-साम्य कला के प्राण हैं। चित्र कला अथवा काव्यकला में संगीत का प्रभाव आत्मा को गलाने के लिए (विगलित वेद्यान्तर संस्पर्श) आवश्यक है, जिससे रस के साधारणीकरण में अथवा सहृदय के लिए 'वर्णनीय तन्मयीभवन योग्यता' से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उत्पन्न 'निरन्तर रस चर्वणा' (Contemplative merging of the subject's activities in the object's qualities) में सरलता हो जाय। कलाकार की मौलिकता का परिचय उसकी कला-कृति के आकार-प्रकार से ठीक उसी तरह मिलता है, जिस प्रकार उसके रस-परिपाक और समष्टि-व्यक्तित्व की पहचान उसकी अनुभूतियों की वास्तविकता और वेदना की तीव्रता से हो जाती है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

: ८ :

सुन्दर और उदात्त

कला के मूल में अवश्य ही बुद्धितत्त्व से अधिक व्यापक कोई तत्त्व है। यही कारण है कि मानवी कृतियों में कलात्मक रचनाओं (जैसे नृत्य, गीत, चित्र आदि) पहले आई और बुद्धि-प्रधान विज्ञान, गद्य आदि का विकास पीछे से हुआ। और भी, उपयोग से पूर्व ही मनुष्य ने आभरण का आविष्कार किया। इस कला-तत्त्व का स्वरूप क्या है, जिसके कारण हमारा सम्पूर्ण व्यक्तित्व इस मस्तिष्क-प्रधान युग में आज भी कला-कृतियों में परम शान्ति पाता है। वैज्ञानिक की युक्ति हमारी बौद्धिक दीप्ति अवश्य करती है; किन्तु गायक की स्वर-लहरी में हमारे सम्पूर्ण अस्तित्व को गलाकर झंकृत कर देने की शक्ति है। कला के इस द्रावक, रहस्यमय चमत्कार का प्रयोग प्रभाव के लिए धर्म, राजनीति और अनक 'वाद' खूब करते हैं।

कला का सम्बन्ध मनुष्य के भाव-जीवन से है। भाव-जीवन अपनी परम तृप्ति के लिए आनन्दमय 'सुन्दर' का दर्शन और सृजन करता है—ठीक उसी प्रकार, जैसे बुद्धि 'सत्य' का और जीवन परम कल्याण-रूप 'शिव' का। मनुष्य की त्रिविध प्रकृति में भावना अधिक मौलिक और व्यापक प्रतीत होती है। सर्वप्रथम जब कला-तत्व की गवेषणा प्रारम्भ हुई, तब भरत मुनि ने भावना को ही कला के प्राण-रूप से प्रतिष्ठित किया और स्थायी भाव, आलम्बन और उद्दीपन विभाव, संचारी भाव आदि वैज्ञानिक शब्दों का प्रयोग किया। इस तरह रसों का नामकरण और वर्गीकरण हुआ। भारतीय सौन्दर्य-विज्ञान के विकास में आनन्दवर्धन ने कलानुभूति में 'ध्वनि' नाम की विशेष चमत्कारोत्पादक चित्त-क्रिया का पता लगाया,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जिसके द्वारा कला अपनी अभिव्यंजक सामग्री को प्राणित करती है और मानव-जीवन के गूढ़तम स्तरों में आनन्द का 'निरन्तर चर्वणाजन्य' रस-स्रोत वहाती है। आनन्दवर्धन के परवर्त्ती अभिनवगुप्त, मम्मट और विश्वनाथ आदि कला-तत्त्व के पण्डितों ने केवल भरत के 'भावना-विज्ञान' की ही परिपुष्टि की। आगे चलकर तो संस्कृत-साहित्य में इसी का अत्यधिक पिष्टपेषण हुआ। हिन्दी ने संस्कृत से कला-विज्ञान लिया; किन्तु वह इसे भरत के स्थायी भाव, रस आदि की कल्पना से आगे न बढ़ा सकी। हिन्दी में कला-कृति की धारा पाश्चात्य और बँगला-साहित्य से प्रभावित होकर इतनी तीव्र और स्वच्छन्द——और कुछ उच्छृंखल भी——गति से वह रही है कि हम इसे प्राचीन कला-विज्ञान द्वारा समझ ही नहीं सकते। महादेवी, पन्त, निराला, आदि की कला में स्थायी भाव, आलम्बन और उद्दीपन विभाव खोजनेवाले पाठकों और तथाकथित कलामर्मज्ञों को सिर-पीड़ा के अतिरिक्त क्या मिलता होगा?

तब हम अपने युग की कला का मूल्यांकन कैसे करें? यह स्पष्ट है कि 'छायावाद' और 'रहस्यवाद' एक सीमा के भीतर ही कला के मर्म को समझने में सहायक होते हैं। 'ससीम' में 'असीम' की छाया का प्रस्फुट दर्शन एक सत्यद्रष्टा कलाकार को हो सकता है। ऋग्वेद और उपनिषद् कला के क्रान्तदर्शी, तत्त्वनिष्ठ कवि 'यो वै भूमा तत्सुखं, नाल्पे सुखमस्ति, भूमैव सुखम्' का प्रत्यक्ष करते थे और एक अजर, अमर, असीम सत्ता से ओतप्रोत रहते थे। 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कदाचन ।...को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' इत्यादि रहस्यमय आनन्द-उद्गारों में अनुभूति की वास्तविकता और तीव्रता का कलात्मक आभास होता है। असीम तत्त्व के साथ तदाकारता में महान् तन्मय वेदना का रसास्वादन भी वैदिक काव्य-कला में होता है। इस 'छाया' और 'रहस्य' को आज के सैकड़ों अतृप्त वासनाओं का भार लिए हृदयोंवाले

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कवि क्या कला में ढाल सकेंगे ? 'छायावादी' और 'रहस्यवादी' कही जाने वाली कविताओं में वेदान्त की किताबी 'अनुभूति' की ओट में क्षुब्ध वासनाओं की कुछ टीस, कुछ 'आह' सुनाई देती है !

कला के मूल्यांकन की एक पाश्चात्य पद्धति भी है। रिरंसावाद (Romanticism) कला-कृति में उस आस्वाद का नाम है, जिसमें 'पुरातन' के प्रति विद्रोह की घोर घोषणा-ध्वनि हो, और एक 'नवीन' युग का आनन्दालोक, नवीन गान, नवीन क्रन्दन, नवीन आशा और अभिलाषा का कल निनादमय निर्झर बहे। यह ऐतिहासिक युग-क्रान्ति का समय होता है, जब सम्पूर्ण समाज जीवित रहने के लिए क्रान्ति द्वारा कायाकल्प करता है। मानव-प्रकृति के अन्तस्तलों में से शतशः अनुभूति और रुचि हिल्लोल भर कर उमड़ उठती हैं और कला में ढल कर हमारे वातावरण में गुंजार करने लगती हैं। सम्पुष्टिवाद (Classicism) कला के नवीन आविष्कृत आकार-प्रकार, सामाजिक नवीन दृष्टिकोण को सब ओर से और सम्यक् प्रकार से परिपुष्ट, संयत और प्रांजल करता है। निस्संदेह हिन्दी का बहुत-कुछ काव्य और कला युग-संक्रमण की उपज हैं।

किन्तु क्या इतने से ही हम कला की आत्मा का अवलोकन कर सकेंगे ? भावी भारत का सुनहरा स्वप्न तथा भव्य और स्वच्छन्द सामाजिक जीवन की आलोक-रश्मियाँ अवश्य ही हमारी कला को उद्भासित किए हुए हैं। पर इतने से हम कला के तल में उर्मिल अनुभूति को समझने में सफल हो सकते हैं; कला के स्वरूप, उसके आकार-प्रकार, अलंकार, गान और स्वर-लहरी को नहीं पहचान सकते।

पाश्चात्यों को कला-तत्त्व के अनुसंधान में काम-तत्त्व (Libido) का प्रत्यक्ष हुआ, जो जीवन-तत्त्व (Elan Vital) अथवा जीवन-शक्ति (Horme) से अभिन्न है। रूस के एक कला-वैज्ञानिक ने इसे सौन्दर्य-भावना (The Will to Beauty) कहा है। कलामय जीवन की मूल-शक्ति

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की खोज उपनिषत्कारों ने की। उन्होंने 'आनन्द' का साक्षात्कार किया। भवभूति ने इस तत्त्व को 'करुण' (Pathos) कहा। भोजराज ने इसे 'श्रृंगार-तत्त्व' नाम से पुकारा। कुछ भी हो, वस्तुतः कला-तत्त्व कोई व्यापक और गम्भीर वस्तु है और कुछ अविज्ञेय कारणों से वह कलामय प्रवाह में परिणित हो जाता है। इस तत्त्व के स्वरूप का निश्चय करना और उन सृजनात्मक कारणों और शक्तियों का पता लगाना कला-विज्ञान का महत्वपूर्ण प्रश्न है।

यही काम-तत्त्व हमारे जीवन, भावना, वासना और विचार के भी मूल में है। सृष्टि के क्रम-विकास के स्रोत में काम-तत्त्व की अविराम प्रवर्द्ध-नशील शक्ति ही विद्यमान है। मानव-प्रकृति में यह तत्त्व जब अपनी सन्तुष्टि के लिए विषयों की ओर प्रेरित होता है, तब इसका रूप वासनामय हो जाता है और सांसारिक सुख-दुःख का भान होने लगता है। काम क्रोध आदि भावनाएँ भी वासना में मिश्रित होकर वासनावासित हो उठती हैं। भरत के कला-विज्ञान की भावना का यही रूप है। वास्तविक कला-अनुभूति का आस्वाद इस वासना-वासित भावना से अत्यन्त भिन्न है। जब इस मौलिक काम-तत्त्व का उद्‌गमन विषयोन्मुख न होकर अपने ही विशुद्ध रूप की ओर होता है, तब हमारी सम्पूर्ण अन्तरात्मा एक अपूर्व आह्लादमय चमत्कार से पूरित हो उठती है,। तभी हमें अपने वास्तविक तत्त्व की गूढ़, विशद और रसोद्रेकयय, सुख-दुःख सनी वासना से अतीत, एक अनुभूति होती है। यही कला की तात्त्विक अनुभूति है और इसी का नाम 'रस', 'आनन्द' अथवा 'प्रीति' है। विश्व-सत्ता के गर्भ में इस प्रत्यक् तत्त्व का दर्शन एक अनन्त और अविराम 'वेदना' उत्पन्न करता है जिसमें हमारा लघु अस्तित्व घुलकर तदाकार होने के लिए आतुर हो उठता है। इस परम वेदना का नाम ही 'करुण' है, जो सुख-दुःख की सांसारिक सीमा से दूर है। यही माधुर्य का अखिल स्रोत 'श्रृंगार-तत्त्व' है। इस प्रकार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सच्चा कलाकार सच्चा उपासक है। उसकी सौन्दर्योपासना में उसका परिमित व्यक्तित्व अपरिमित हो जाता है और उसकी व्यष्टि-अनुभूति विश्वानुभूति बन जाती है।

यह रसानुभूति अन्य प्रकार से भी होती है; किन्तु कलाकार के हृदय में यह वेदना प्रकृष्ट और सवाक् हो उठती है। कला-उपासक की परमानन्दमय, अर्द्ध-अचेतनावस्था में यह वेदना स्वयं ही स्वर-लहरी में ढल जाती है। दार्शनिक तत्त्ववेत्ता भी इस काम-तत्त्व का साक्षात्कार करते हैं; किन्तु उनका दृष्टिकोण बौद्धिक होता है; उनकी 'अनुभूति' का नाम 'सत्य' होता है। कर्मण्य लोग भी इस तत्त्व का दर्शन करते हैं। वे इसकी 'शिव'-रूप से प्रतिष्ठा करते हैं। कलाकार भावना के द्वारा (विचार और क्रिया द्वारा नहीं) तत्त्व-साक्षात्कार करता है और विश्व के विभामय, तरल ज्योतिर्मय और प्रवहणशील पदार्थों को 'प्रतीक' बनाकर अपनी अनुभूति को कला-कृति में परिणत कर देता है। कवि की अनुभूति को वहन करने वाले ये ज्योतिर्मय प्रतीक एक अपूर्व माधुर्य और सौन्दर्य से उत्प्राणित हो उठते हैं। कला की 'आनन्द'-अनुभूति को प्रत्यक्ष रूप से वहन करने वाले प्रतीक का नाम कला-विज्ञान की दृष्टि से 'सन्दर' होता है।

वर्त्तमान काव्य-धारा का सार इससे स्पष्ट हो जाता है। बाह्य प्रकृति और उसके छटामय, छविमय पदार्थ——कोकिल, दीपक, सुमन, वन, ज्योतिर्जगत्——कलानुभूतिवाही, सौन्दर्य के प्रतीक हैं। वर्णनार्थ चित्रमय 'प्रतिबिम्ब' नहीं हैं। हम कला में 'प्रतिबिम्बवाद' के विरोधी और प्रतीक-वाद' के पोषक हैं। कारण, हम कला का मूलोद्गम बाह्य प्रकृति के 'अनुकरण' से नहीं मानते। इसके विपरीत, कवि की तात्विक रसानुभूति से ही कला-स्रोत प्रवाहित है। वर्त्तमान कला-सृजन का मूल्यांकन इसी दृष्टि से संगत प्रतीत होता है। मूल्यांकन में प्रथम तो यह जानना

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आवश्यक है कि कलाकार को वस्तुतः तात्त्विक 'वेदना' का अनुभव हुआ या नहीं, अथवा वह कवल वासना के सुख-दुःख-जाल में ही उलझा है। वेदना इतनी तीव्र और स्पष्ट भी है कि वह स्वयं सवाक् और सजीव हो उठे । द्वितीयतः, कलाकार अपनी नवोन्मेषशालिनी मौलिक प्रतिभा से सौन्दर्य- प्रतीकों की सृष्टि करने में सफल हुआ है अथवा नहीं।

कला सृजन और कलानुभूति में 'सुन्दर' के अतिरिक्त 'उदात्त' का भी स्थान है। काम-तत्त्व के विशुद्ध रूप की भावमय अनुभूति का नाम 'आनन्द' और 'आनन्दवाहक' प्रतीक का नाम 'सुन्दर' है । यह काम-तत्त्व बाहुल्य से 'प्रकृति-पुरुष' के रागात्मक, सनातन प्रेम की ओर ही स्वभावतः प्रवृत्त होता है और 'आनन्द' तथा 'सुन्दर' का उत्पादन करता है । जब यह तत्त्व अपनी स्वाभाविक गति का रोध कर, केवल 'प्रकृति-पुरुष' की अनुरक्ति से हटकर, अपने अजर, अमर और अनन्त स्वरूप के आलोक से विभासित हो उठता है, उस समय कलाकार की रचना न केवल 'सुन्दर' होती है, बल्कि एक अपूर्व, विकासशील ब्रह्मानुभूति उत्पन्न करती है और 'उदात्त' हो जाती है। उस अनुभव में 'हृदय-ग्रन्थि छिन्न होने से एक निरानन्द आलोक-लोक में आत्मा स्वयं प्रभापुंज हो उठती है। उस समय 'परावर' का सत्यतम सुन्दरतम और प्रियतम दर्शन होता है ।

हमारे वर्त्तमान काव्य में शुद्ध कलानुभूति——आनन्द——का सर्वथा नहीं, तो अंशतः अभाव अवश्य है। 'उदान्त' की ओर अभी कला-धारा नहीं चली, ऐसा भी प्रतीत होता है । अभी 'वासना' और अतृप्त' आकांक्षाओं की दुर्गन्ध आती है। किन्तु कला को अपना सच्चा रूप पाने के लिए 'सुन्दर और 'उदात्त' की ओर अग्रसर होना होगा। सौभाग्य से भारतवर्ष में इस समय चतुर्दिक सामाजिक आन्दोलन और क्रान्ति के कारण तीव्र-से-तीव्र वेदना और गूढ़-से-गूढ़ अनुभूति के लिए पर्याप्त अवसर है। हमारे जीवन के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गहरे स्तरों में से नवीन युग की निनादमय घोषणा निकल रही है। क्या हमारे कलाकार इस घोषणा को—काम-तत्त्व के इस प्रखर प्रवाह को—हृदयंगम करेंगे और उसकी अभिव्यक्ति के लिये 'सुन्दर' तथा 'उदात्त' प्रतीकों की कलामय सृष्टि करेंगे ?

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

: ९ :

अलंकार

आस्वादन की दृष्टि से कला एक प्रभाव विशेष का नाम है। इस प्रभाव को रस अथवा आनन्द भी कहते हैं। परन्तु, स्मरण रहे, यह आनन्द किसी भी सांसारिक भोग से भिन्न है। वस्तुतः यह अलौकिक है; इसके अनुभव से वासनाओं के जटिल जालों में बँधा हुआ मन कुछ समय के लिए उन्मुक्तहो कर नवीन चेतना के आलोक से जगमगा उठता है। कलात्मक प्रभाव और मुक्ति का अनुभव समान हैं। मुक्त होने पर आनन्द के स्रोत जो अवरुद्ध रहते हैं खुल जाते हैं। सच तो यह है, कला हमें वास्तविक और प्रबल सुख की सामर्थ्य प्रदान करती है।

कलाकार कलात्मक प्रभाव को उत्पन्न करने के लिए कला-वस्तु का सृजन करता है। कला-वस्तु अपने सम्पूर्ण अंगों से उसी प्रभाव का उत्पादन और पोषण करती है। इसके अवयवों में पारस्परिक सन्तुलन आवश्यक है। परन्तु इसके अतिरिक्त प्रत्येक अंग स्वयं अपना प्रभाव रखता है, जिसको कलाकार अपने कौशल से और भी अधिक बढ़ा देता है। इस कौशल से अंगों के प्रभाव में वृद्धि तो होती है, परन्तु साथ ही सम्पूर्ण कला-वस्तु में आकर्षक चमत्कार भी उत्पन्न होता है। इस चमत्कार को उद्दीप्त करनेवाले कलाकार के कौशल से उत्पन्न आंगिक सौन्दर्य को कला-विज्ञान की भाषा में 'अलंकार' कहा जाता है।

मानना होगा कि अलंकार अंग की स्वाभाविक शोभा के अनुकूल होकर ही उसे अलंकृत और चमत्कृत बना सकता है। यह सिद्धान्त इतना सरल और सर्वमान्य है कि प्रत्येक देश में सभ्य और असभ्य सभी जाति

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के पुरुष और विशेषतः स्त्रियाँ इसी के अनुसार अपने भिन्न भिन्न अंगों में अलंकारों की रचना करते हैं। अपने शरीर के भिन्न भिन्न भागों की सुवर्ण-दीप्ति को बढ़ाने के लिए सुवर्ण के आभूषण इतना आकर्षण रखते हैं। रंग में एक विशेष गुण है : वह किसी अंग के अनुकूल और कभी कभी प्रतिकूल होकर भी सौन्दर्य का विशेष सन्तुलन करता है । इसलिए महिला-जगत् में मस्तक की शोभा के लिए लाल रंग की रोली और पीले रंग की केसर के तिलक का इतना सम्मान है। असभ्य जातियों में भी बालों की शोभा के लिए रंगीन दानों का प्रयोग प्रचलित है। सौन्दर्य के पारखी लोगों ने तो 'तिय लिलार' की 'बेन्दी' में शोभा को 'सहस गुनी' कर देने की सामर्थ्य बताई है।

यदि कलाकार अलंकार का सृजन अंगों के स्वाभाविक सौन्दर्य को दीप्त करने के लिए ही करता है तो अलंकार का सौन्दर्य आवश्यक होने पर भी गौण रहना चाहिए। इसका अभिप्राय है कि आभूषण का चमत्कार उसी समय तक मान्य होगा जब तक वह सहायक के रूप में होकर अपने अंगी प्रभाव को पुष्ट करता रहेगा। जहाँ कला में अलंकार ही सर्वस्व होकर स्वाभाविक शोभा को गौण बना देते हैं, वह कला केवल निष्प्राण होकर केवल अलंकृत रह जाती है । कला के इतिहास में अलंकारों की भरमार उस युग में होती है जब कला के विस्तार और सृजन की प्रेरक शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं और कला-भावना नवीन क्षितिज और उर्वर भूमि न पाकर संकुचित होने लगती है। मध्यकालीन भारतवर्ष की कला में अलंकारों का प्राचुर्य है। इसी युग में इस देश का मानसिक, चारित्रिक और ऐतिहासिक पतन भी हुआ ।

कला में रस प्रधान है, इसलिए अलंकार रसानुकूल होने चाहियें। उदाहरणार्थ यदि नाटक में विधवा स्त्री को सुवर्ण आभूषण और रंगीन वस्त्रोंसे सजाया जाये तो इससे करुण रस की पुष्टि में विरोध उत्पन्न होगा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अतएव विधवा का अलंकार मलीन और सादा वस्त्र, एक वेणी, ही होगा। चित्र कला में भी रेखा और अंगों द्वारा, मूर्ति कला में मुद्रा और घन द्वारा, रस के प्रभाव को दीप्त और पुष्ट बनाने के लिए कलाकार को आवश्यक है कि उचित अलंकारों की सृष्टि करे।

अलंकार गौण होते हुए भी कला के अभिन्न भाग हैं। इसका तात्पर्य है कि जिस अलंकार का कला के अन्य अंगों से सामञ्जस्य नहीं वह अलंकार कलात्मक नहीं कहलाया जा सकता। वस्तुतः जिस सृजन-शक्ति से कला के स्वरूप का उत्पादन होता है उसी से तत्काल और तदनुकूल अलंकार का भी जन्म होता है। कलाकार को अलंकार के लिए पृथक् प्रयत्न नहीं करना पड़ता। एक ही सृजनात्मक प्रयत्न से रस और रस के पोषक अलंकार की उत्पत्ति होती है। यह सत्य अलंकार की परीक्षा के लिए उचित कसौटी है। यदि अलंकार की रचना कलाकार दूसरे प्रयत्न से करता है तो वह कला के केन्द्रीय भाग से दूर रहेगा––कला से बहिर्भूत होगा, मानो यह इसके ऊपर बाहर से लादा गया है।

अलंकार कवि के कौशल से उत्पन्न होता है। यदि कवि अपने कौशल के प्रदर्शन के लिए अत्यधिक लालायित है तो भी अलंकार अपने वास्तविक कार्य से च्युत हो जाता है। भारतवर्ष के प्राचीन संगीत में गायक बहुधा अपने कौशल का प्रदर्शन करने की इच्छा से संगीत की कला को नष्ट कर देते हैं। यही दशा अन्य कलाओं की भी है।

अंग की शोभा के लिए अलंकार की सृष्टि की जाती है। परन्तु कला में अंगों का सन्तुलन यदि आवश्यक है तो उनके पोषक अलंकारों में भी सन्तोल उतना ही है अनिवार्य। इसका अभिप्राय है कि कलाकार प्रत्येक अंग को इतना सजाये कि कहीं एक दूसरे से अत्यधिक या अत्यन्त न्यून न हो जाये। ऐसा न हो कि मोर की भाँति उसके पंख सुन्दर और सजीले हों और पैर भद्दे रहें।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सारी कलाओं की अपेक्षा काव्य में अलंकारों का प्रयोग अधिक और विशेष कौशल और प्रभाव के साथ होता है। वस्तुतः कविता में अलंकार का कार्य भी विशेष है। कविता में शब्द और उनके अर्थों द्वारा रसिक के मन में कवि रस की अवस्थायें उत्पन्न करना चाहता है। आवश्यक है कि ये अवस्थायें अन्य अवस्थाओं की अपेक्षा स्पष्ट, तीव्र और उद्दीप्त हों। सच तो यह है कि कविता में शब्दों का विशेष कार्य यही है कि वे अपने बल द्वारा रसिक के मन में प्रत्यक्ष अनुभूति उत्पन्न करें। साधारणतया शब्द केवल शाब्दिक अथवा परोक्ष अनुभव उत्पन्न करते हैं, परन्तु कला में यह अनुभव प्रत्यक्ष, प्रबुद्ध और दीप्त होना आवश्यक है। तब तो कवि को शब्दों का प्रयोग विशेष कौशल से करना होगा। यहाँ यह स्मरण रहना आवश्यक ह कि वैसे तो सारी कलानुभूति प्रत्यक्ष ही होती है: जैसे चित्र कला में रंगों और रेखाओं की जो सृष्टि की जाती है वह इतनी सजीव और सबल होनी चाहिए कि दर्शक को उनके जीवन में सन्देह न हो। इसी भाँति, वास्तु, मूर्ति, संगीत आदि कलाओं में भी। नृत्य में तो गति और नाद से जीवन का प्रत्यक्ष अनुभव होता ही है। परन्तु कवि शब्दों का प्रयोग करता है जिससे साधारणतया प्रत्यक्ष अनुभव सम्भव ही नहीं है। इसीलिए कवि का कार्य कठिन है क्योंकि परोक्ष अनुभव के साधन-शब्दों से प्रत्यक्ष और प्रबल अनुभव कराने में ही उसकी सफलता है।

कवि को अपने कार्य सम्पादन में अलंकारों से बहुत सहायता मिलती है। काव्य में अधिकतर अलंकार समान धर्म और सादृश्य के ऊपर निर्भर होते हैं। उपमा और रूपक को सारे अलंकार की जननी और जनक माना गया है। सादृश्य के द्वारा कवि अपरिचित, अव्यक्त और सुदूरस्थ वस्तुओं का उद्घाटन परिचित, व्यक्त और निकटवर्ती वस्तु की सहायता स करने में सफल होता है। कवि जिस मानसिक जगत् में भ्रमण करता है वह जगत् रसमय, सौन्दर्यमय, और भावनामय होते हुए भी सूक्ष्म और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गम्भीर है। उस जगत् का प्रत्यक्ष सृजन कवि शब्दों द्वारा करना चाहता है। उस समय उसे आँखों देखे जगत् में अनेक सदृश पदार्थ मिल जाते हैं। इन्हीं सादृश्यों के सहारे उसकी रचना पूर्ण होती है।

वस्तुतः अन्तर्जगत् का अवगाहन, प्रत्यक्षीकरण, और उसका शब्दों द्वारा उद्घाटन बिना सादृश्य-चित्रों के होना सम्भव नहीं है। इसलिए काव्य में अलंकार इतने सार्वभौम और सर्वमान्य हैं कि कविता के ऊँचे से ऊँचे और नीचे से नीचे स्तर पर प्रत्येक युग और देश में इनका पाया जाना इतना स्वाभाविक है। काव्य में तो अलंकार व्यञ्जना के साधन हैं और साथ ही हमारी रसानुभूति को प्रज्वलित और प्रबुद्ध बनाते हैं। अलंकारों की सृष्टि करने वाला कवि वस्तुतः महा कवि हो सकता है। कालिदास के महा कवि होने का महान् श्रेय उसमें 'उपमा' की सृजन शक्ति को है (उपमा कालिदासस्य) इस दृष्टि से तो अलंकारों की मूलभूमि मन के अन्तः स्तर हैं जिनका उद्घाटन इनके द्वारा ही हो सकता है। जिस प्रकार वैज्ञानिक विचारों द्वारा अन्तर और बाह्य जगत् को समझने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार सौन्दर्य के सृष्टा कवि और कलाकार अलंकारों द्वारा रसमय संसार को हृदयंगम करते हैं। अलंकार ही कवि की भाषा है जिसके द्वारा उसकी सौन्दर्यानुभूति सवाक् हो उठती है। वस्तुतः उपमा, रूपक, सन्देह, उत्प्रेक्षा, उत्कर्ष आदि जितने भी अलंकार हैं वे मन की वेस्थितियाँ हैं जिन्हें रसानुभूति को जाग्रत बनाने के लिए कवि ने अपने कौशल से सृजन किया है। अलंकार शून्य काव्य जिसमें हमारी कल्पना और बुद्धि को चमका देने की शक्ति नहीं केवल भावना के निष्प्राण प्रभाव मात्र है, जिससे हमारी सर्वांगीण तप्ति सम्भव नहीं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

: १० :

प्रतीकवाद और प्रतिबिम्बवाद

किसी सूक्ष्म वस्तु के लिए स्थूल प्रतिवस्तु की कल्पना उसका 'प्रतीक' कहलाता है, और किसी स्थूल वस्तु के लिए सूक्ष्म प्रतिकृति उसका प्रतिबिम्ब माना जाता है। उदा:–कमल निष्पाप सौन्दर्य का प्रतीक है। यहाँ निष्पाप सौन्दर्य की अपेक्षा कमल स्थूल है। मनुष्य की अपेक्षा उसका चित्र सूक्ष्म है, और यह चित्र मनुष्य का प्रतिबिम्ब है। प्रतीक और वस्तु में साम्य आवश्यक नहीं, परन्तु चित्र बिना साम्य के चित्र नहीं कहलाया जा सकता। प्रतीक आध्यात्मिक अथवा मानसिक गुण या अनुभव का 'स्थूलीकरण' उपाय है जिससे अप्रत्यक्ष का प्रत्यक्ष हो सके। चित्रण द्वारा स्थूल पदार्थ का संरक्षण प्रयोजन होता है। प्रतीक से मूल वस्तु तक पहुँचने के लिए कल्पना, और इससे भी अधिक, व्यञ्जना चाहिए, क्योंकि प्रतीक किसी सूक्ष्म वस्तु या अनुभव क प्रत्यक्ष के लिए अभिव्यञ्जक सामग्री अथवा परिचायक चिन्ह है। चित्र के द्वारा चित्रित पदार्थ तक जाने के लिए साधारण कल्पना पर्याप्त है! प्रतीक और प्रतिबिम्ब दोनों ही मानवी प्रतिभा की उपज हैं।

कला में प्रतीक और प्रतिबिम्ब दोनों को स्थान प्राप्त है। कला चित्रण करती है। चित्रकार अपनी तूलिका से, शिल्पी अपनी टाँकी से, मूल वस्तु का ज्यों का त्यों प्रतिबिम्ब खींचना चाहता है इसी अनुकरण से दर्शक को 'आश्चर्य' उत्पन्न होता है। चित्रकार द्वारा कमल का चित्रण सजीव अनुकृति होने के कारण हमारे लिए विशेष पदार्थ है। परन्तु प्रश्न यह है कि चित्रकार का पुष्प केवल 'अनुकृति' होने के कारण क्या कलात्मक कहलाया जा सकता है; अथवा 'चमत्कार' का आस्वादन करने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के लिए, जो कला का प्राण है, उस पुष्प के लिए आवश्यक है कि वह कोमल कल्पनाओं और आशाओं का प्रतीक भी हो।

प्रश्न का महत्व इसलिए है कि कला के दो स्वरूप हमारे सामने उपस्थित हैं: एक वह जिसमें कला-सृजन के लिए प्रेरणा बाहर से मिली है। इसके अनुसार कलाकार द्वारा अनुभूत बाह्य-प्रकृति के सौन्दर्य का चित्रमय प्रदर्शन कला है। दूसरा वह, जिसमें कला की मूल प्रेरणा का जन्म अन्तः सौन्दर्य अथवा आध्यात्मिक अनुभूति में हुआ है। इसके अनुसार कला-सृजन केवल प्रतीकों द्वारा सम्भव है। यह भेद केवल ऊपरी नहीं है, परन्तु इसका मूल हमारी दृष्टि और जीवन की प्रेरणा में है। प्रकृति का बाह्य रूप कम सुन्दर नहीं है, उसमें आकर्षण है, आह्लादमय रूप और शब्द की सुन्दर संगति है। कभी निश्चिन्त मन से जिसने संध्या के बादलों को देखा है वह जानता है उसके रंगों में कितनी मोहक छटा है। परन्तु हमारे जीवन के अन्तः प्रदेशों में भी रस के प्रवाह बहते हैं, और समुद्री बवंडर भी उठते हैं। वहाँ पुष्प सा महकीला प्रेम फूलता है, पर द्रोह की भयंकर ज्वालायें भी जलती हैं। उसमें ओस सी कोमल आशायें झिलमिलाती हैं, परन्तु निराशा की निबिड रजनी भी है। मानस जगत् की छटायें कम मनोरम नहीं है, अपितु गम्भीर और हमारे निकटतम हैं। कला को कहीं कहीं इसी अन्तर्जगत् से प्रेरणा मिली है।

यह तो नहीं कहा जा सकता कि कला में दूसरे को छोड़ कर केवल एक से ही पूरी प्रेरणा मिली है, परन्तु यह सत्य है कि भारतीय कला का मूल स्रोत अन्तर्जगत् की अनुभूति ही रही है और पाश्चात्य कला का विकास अधिकतः बाह्य प्रेरणा से हुआ है। इसलिए एक में यदि चित्रण और अनुकरण प्रधान है तो दूसरी में व्यञ्जना की प्रचुरता है। एक में कलाकार का प्रयत्न प्रतिबिम्ब उत्पन्न करने के लिए है तो दूसरे में प्रतीकों की सृष्टि करने के लिए। प्रतिबिम्ब का मुख्य ध्येय दृश्य जगत् की कान्त कल्पना

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का चित्रण है, परन्तु प्रतीकों से ध्वन्यात्मक व्यञ्जनायें निकलती हैं जिनका केन्द्र नयन नहीं, श्रवण है। इसलिए भारतीय कला में संगीत का माधुर्य है, श्रव्यता इसका प्रधान गुण है। पाश्चात्य कला में दृश्य कल्पनाओं की सूक्ष्मता और रंगीनी है।

बाह्य पदार्थ का केवल प्रतिबिम्बन कला का प्रथम सोपान है। सूक्ष्म अनुकरण से भी कला में सौन्दर्य का सृजन सम्भव नहीं। कला में प्रतिकृतिवाद अथवा शुद्ध प्रतिबिम्बवाद सम्भव नहीं है। पाश्चात्य कलाकारों ने केवल 'प्रतिबिम्बन' से ऊपर उठने के लिए उसमें अन्य तत्त्वों का समावेश किया है। जैसे, भाव, अलंकार, संयोजन आदि। भाव के द्वारा कला-कृति का सम्बन्ध अन्तर्जगत् से होता है और वह वस्तु केवल इन्द्रिय सम्पर्क से उठकर हृदय और मस्तिष्क तक पहुँच जाती है। कलाकार का 'पुष्प' दर्शनीय चित्र तो है ही, साथ ही भावोद्रेक की सामर्थ्य भी रखता है, इसीलिए इसका अधिकार मन पर भी है। अतः इस कला का प्रारम्भ अवश्य ही प्रतिबिम्ब से हुआ हो, परन्तु अपनी विकसित अवस्था को पहुँच कर इसमें मानसिक तत्त्वों का प्राचुर्य है।

प्रतीकवाद के अनुसार 'पुष्प' मानसिक अनुभवों का चिन्ह मात्र है। परन्तु किसी भी प्रतीक का आविष्कार कुछ सिद्धान्तों के अनुसार होता है। पुष्प की कोमल सुन्दरता और निर्मल कान्ति ही उसे कलाकार के लिए विशुद्धता का प्रतीक बनाती है। इन गुणों का अनुभव कलाकार हृदय से करता है और अपनी भावनाओं के बल से इनका स्पष्ट प्रत्यक्ष करता है। इन भावों की अभिव्यक्ति के लिए, कलाकार प्रकृति के मनोरम पदार्थों का प्रयोग प्रतीक रूप से करता है। इस कला में वस्तु का अक्षरशः चित्रण आवश्यक नहीं। उसक प्रतीक में केवल भावाभिव्यक्ति की सामर्थ्य होनी चाहिए। कलाकार प्रकृति के पदार्थ में 'रूपान्तर' भी उत्पन्न करता है, इसलिए कि उसमें भावों की गम्भीर ध्वनि उत्पन्न हो। प्रतीकवाद के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अनुसार कलाकार का पुष्प अपनी पंखड़ियों और पत्तियों से कोमल कल्पन और आशाओं का परिचायक चिन्ह मात्र है।

मनुष्य की आकृति का कला में उच्च स्थान है, कारण कि इसमें भावाभिव्यक्ति की सामर्थ्य सर्वाधिक है। प्रतिबिम्ब वादी कला में मानव-शरीर के अंगों का यथावत् चित्रण हुआ है और गम्भीर भावों का सूक्ष्म दृष्टि द्वारा प्रतिबिम्बन हुआ है। फोटोग्राफ की अपेक्षा चित्र में विशेषता यही है कि इसमें भाव स्पष्ट और दृष्टि सूक्ष्म है। परन्तु प्रतीकवाद के अनुसार मानव चित्र का सौन्दर्य केवल इसी में है कि वह अन्तर्जगत् के प्रत्यक्ष दर्शन के लिए स्पष्ट दर्पण है। इसलिए भारत में मानवी चित्रों में, आँख, नासिका, मुख आदि के लिए भी, कमल, चन्द्रमा आदि का प्रतीक रूप से प्रयोग हुआ है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh